ओ३म्

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

नवम्बर २०१९ Date of Printing = 05-11-19
प्रकाशन दिनांक= 05-11-19

वर्ष ४९ : अङ्क १
दयानन्दाब्द : १९५
विक्रम-संवत् : कार्तिक-मार्गशीर्ष २०७६
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,१२०

संस्थापक : **स्व० ला० दीपचन्द आर्य**
प्रकाशक व
सम्पादक : धर्मपाल आर्य
सह सम्पादक : ओमप्रकाश शास्त्री
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :
दयानन्दसन्देश (मासिक)
४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,
खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९८५५४५, ४३७८११९१
चलभाष : ९६५०५२२७७८
E-mail : aspt.india@gmail.com

एक प्रति १५.०० रु० वार्षिक शुल्क १५०) रुपये
पंचवर्षीय शुल्क ५००) रुपये
आजीवन शुल्क ११००) रुपये
विदेश में ५०००) रुपये

इस अंक में

❑ यदि देव-दयानन्द न आते २
❑ वेदोपदेश ३
❑ बस न्याय-व्यवस्था के साथ........ ५
❑ शिक्षा, समाज और राजनीति ७
❑ प्रश्नोपानिषद् में प्रथम.... १०
❑ यज्ञ का आत्मा १४
❑ कैसे करें पितरों का श्राद्ध १८
❑ ज्योतिष कितनी झूठी २०
❑ किसके हैं सावरकर २३

विशेष : दयानन्द सन्देश में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की पूर्णतया सहमति आवश्यक नहीं है। अतः किसी भी चर्चा/परिचर्चा एवं वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।

सत्यार्थप्रकाश
प्रचार संस्करण ३००० रुपये सैकड़ा
स्पेशल (सजिल्द) ५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

यदि देव-दयानन्द न आते

खुशहाल चन्द्र आर्य, कोलकाता, मो. ०९८३०१३५७९४

अज्ञान, पाखण्ड के अन्धकार से, हो रहा देश बर्बाद था।
यदि देव दयानन्द न आते, तो न होता देश आजाद था॥
राम, कृष्ण की इस पावन भूमि में लग गई अनेकों बिमारी थी।
सीता, सावित्री, गार्गी को न पढ़ाने से रखी जाती भीतर चार दीवारी थी॥
तेरह वर्ष की कन्या, अस्सी वर्ष के बूढ़े से विवाह की हो जाती तैयारी थी।
जल्दी ही विधवा हो जाने से बाकी उम्र काटनी हो जाती बड़ी भारी थी॥
घर में इज्जत न होने से, नारकीय जीवन जीने की हो जाती उसे लाचारी थी।
नारी ही क्यों शूद्र भाईयों को प्रेम की जगह घृणा-द्वेष की चोट जाती मारी थी॥
जिससे दु:खित होकर, वे अपने ही भाई विधर्मी बनने तक की कर लेते तैयारी थी।
घटते जाते थे हमारे हिन्दू भाई समाप्त हो जाने की आ रही जल्दी ही बारी थी॥
ऋषि दयानन्द ने आकर किया इलाज शुद्धि दवा से उस फोड़े का जिसमें पड़ गया मवाद था।
यदि देव दयानन्द न आते.....॥१॥

हमारी वैदिक संस्कृति में गाय, गायत्री, ब्राह्मण की इज्जत होती सबसे न्यारी थी।
गऊ माता की तो बात न पूछो, उसके ऊपर तो चल रही जालिम की तेज कटारी थी॥
वेदों का पठन-पाठन बहुत वर्षों से बंद होने से, गायत्री माता भी फिर रही मारी-मारी थी।
ब्राह्मण वैदिक मार्ग छोड़ स्वार्थी हो गये, कर दी अनेकों अवैदिक प्रथाएँ जारी थी॥
स्वार्थ सिद्धि मुख्य ध्येय हो गया, लगा दी पेट भरने में ही अपनी बुद्धि सारी थी।
मूर्तिपूजा, मृतक-श्राद्ध तो थे ही, कई देवी-देवताओं की कथा पढ़ी जाने लगी न्यारी थी॥
वैदिक आधार पंच महायज्ञों, वर्ण-आश्रमों, संस्कारों की हालत होती जा रही अति माड़ी थी।
ऐसे में देव दयानन्द आये किया वेदों का प्रचार, तब से वेदों को किया जाने लगा याद था॥
यदि देव दयानन्द न आते.....॥२॥

वेदों के प्रचार से अज्ञान, अन्धविश्वास व पाखण्ड का अन्धेरा दूर भाग गया।
इस वैदिक ज्ञान के दिव्य प्रकाश से केवल भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व जाग गया॥
अज्ञान, अन्धविश्वास व पाखण्ड प्राय: नष्ट हो जाने से मानो जल रोशनी का चिराग गया।
जिससे आई नवजागृति, तब कुटिल अंग्रेज १५ अगस्त १९४७ को भारत छोड़ भाग गया॥
लेकिन जाते-जाते बनाकर पाकिस्तान, लगाकर हिन्दू-मुस्लिम में झगड़ा, लगा देश में आग गया।।
भारत की छाती पर मूंग दलने के लिये पाकिस्तान रूपी छोड़ जहरीला नाग गया॥
आज सैनिक शक्ति व मोदी जी के कुशल प्रशासन से पाक समेत सभी विदेशों से भय भाग गया।
अब जल्दी ही "खुशहाल" देखना चाहता है भारत को वैसा ही जैसा वैदिक काल में उन्नत व आबाद था॥
यदि देव दयानन्द न आते.....॥३॥ ❑❑

ओ३म्

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द

परमेष्ठी प्रजापतिः ऋषिः। **यज्ञः = स्पष्टम् देवता।** स्वराडार्षी त्रिष्टुप छन्दः। धैवतः स्वरः।।

स यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते।।

वह यज्ञ कैसा है, इस विषय का उपदेश किया है।।

ओ३म् वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाऽअसि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।।2।।(यजु० १/२)

पदार्थ **(वसोः)** वसुः। **अत्रार्थाद्विभक्तेर्विपरिणाम इति प्रथमा विभक्तिर्विपरिणम्यते। यज्ञो वै वसुः।। श. १।५।४।६।।** **(पवित्रं)** पुनाति येन कर्मणा तत् **(असि)** भवति। **अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः।** **(द्यौः)** विज्ञानप्रकाशहेतुः **(असि)** भवति **(पृथिवी)** विस्तृतः **(असि)** भवति **(मातरिश्वनः)** मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वनिति वा तस्य वायोः। **शवन्नुक्षन्०।। उ. १/१५७। अनेनायं शब्दो निपातितः। मातरिश्वा वायुर्मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्य्याश्वनितीति वा। निरुक्त ७/२६।।** **(धर्मः)** अग्नितापयुक्तः शोधकः। **धर्म इति यज्ञनामसु पठितम्।। निघं० ३/१७।।** **(असि)** भवति **(विश्वधाः)** विश्वं दधातीति **(असि)** भवति **(परमेण)** प्रकृष्टसुखयुक्तेन **(धाम्ना)** सुखानि यत्र दधाति तेन। **बाहुलकाड्डुधाञ्धातोर्मनिन् प्रत्ययः** **(दृꣳहस्व)** वर्धते। **अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट् च** **(मा)** निषेधार्थे (ह्वाः) ह्वरतु। **अत्र लोडर्थे लुङ्** **(मा)** निषेधार्थे **(ते)** तव **(यज्ञपतिः)** यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्ता यजमानः। **धात्वर्थाद्यज्ञार्थस्त्रिधा भवति। विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमर्थिकसुखसम्पादनाय सत्करणं सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमित** **(ह्वार्षीत्)** ह्वरतु ह्वर वा। **अत्रापि लोडर्थे लुङ् ।। अयं मन्त्रः श० १/५/४/६-११ व्याख्यातः ।।२।।**

प्रमाणार्थ **(वसोः)** वसुः। यहां 'अर्थ के कारण विभक्ति का विपरिणाम होता है' इस नियम के अनुसार 'वसोः' पद प्रथमा विभक्ति में विपरणित किया जाता है। शत० (१/५/४/६) में वसु का अर्थ यज्ञ है। **(असि)** भवति। इस मन्त्र में सब जगह पुरुष-व्यत्यय है। **(मातरिश्वनः)** श्वन्नुक्षन् (उ० १/१५७) में 'मातरिश्वा' शब्द निपातित है। निरुक्त (७/२६) में मातरिश्वा का अर्थ वायु है। मातरि= आकाश में, श्वसिति=गमन करता है एवं आश्वनिति= शीघ्र गमन करता है, अतः वह मातरिश्वा कहाता है। **(घर्मः)** 'घर्म' शब्द निघं० (३/१७) में यज्ञ-नामों में पढ़ा है। **(धाम्ना)** यहां 'डुधाञ्' धातु से बहुल करके 'मनिन्' प्रत्यय है। **(दृꣳहस्व)** वर्धते। यहाँ पुरुष-व्यत्यय है और लट्-अर्थ में लोट्-लकार का प्रयोग है। **(ह्वाः)** ह्वरतु। यहाँ लोट् अर्थ में लुङ्-लकार है। **(ह्वार्षीत्)** ह्वरतु ह्वर वा। यहाँ भी लोट् अर्थ में लुङ् है। इस मन्त्र की व्याख्या शत० (१/५/४/६-११) में की गई है। १/२।।

सपदार्थान्वयः **हे विद्वन्मनुष्य! त्वं यो वसोः=वसुरयं यज्ञः, पवित्रमसि=पवित्रकारकोऽस्ति** (पवित्रम्=पुनाति येन कर्मणा तत्, असि=भवति), **द्यौरसि=सूर्यरश्मिस्थो भवति** (द्यौः=विज्ञानप्रकाशहेतुः, असि=भवति), **पृथिव्यसि=वायुना सह विस्तृतो भवति** (पृथिवी=विस्तृतः, असि=भवति), **तथा-मातरिश्वनो घर्मोऽसि=वायोः शोधको भवति** (मातरिश्वनः=मातरि=अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वनिति वा तस्य वायोः, धर्मः=अग्नितापयुक्तः शोधकः, असि=भवति) **विश्वधाअसि=संसारस्य सुखधारको भवति** (विश्वधाः=विश्वं दधातीति, असि=भवति) **परमेण** प्रकृष्टसुखयुक्तेन **धाम्ना** सुखानि यत्र दधति तेन **सह दृंथ्हस्व=दृंहते=वर्धते।**

तमिमं यज्ञं मा ह्वाः=मा त्यज, (ह्वाः=ह्वरतु), **तथा-ते=तव यज्ञपतिः** यज्ञस्य स्वामी, यज्ञकर्ता=यजमानः। धात्वर्थाद्यज्ञार्थस्त्रिधा भवति-विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपार-मार्थिकसुखसम्पादनाय सत्करणं, सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षी-करणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणामिति, **तं मा ह्वार्षीत्=मा त्यजतु** (ह्वार्षीत्=ह्वरतु ह्वर वा) ।।१।२।।

भाषार्थ : हे विद्वान् मनुष्य! तू जो **(वसोः)** यज्ञ **(पवित्रम्)** पवित्र करने वाला **(असि)** है, अर्थात् पवित्र करने वाला कर्म है, **(द्यौः)** सूर्य की किरणों में स्थिर और विज्ञान प्रकाश का हेतु **(असि)** है, **(पृथिवी)** वायु के साथ देश-देशान्तरों में फैलने वाला **(असि)** है, तथा **(मातरिश्वनः)** वायु का **(घर्मः)** शोधक **(असि)** है, अर्थात्-अन्तरिक्ष में गति करने से वायु का नाम मातरिश्वा है, उस वायु का **(घर्मः)** अग्निताप से शोधक है, **(विश्वधा)** संसार के सुख को धारण करने वाला **(असि)** है एवं विश्व का धारक है, **(परमेण)** उत्तम सुख से युक्त **(धाम्ना)** लोक के साथ **(दृहस्व)** बढ़ता है।

उस यज्ञ का **(मा ह्वाः)** त्याग मत कर तथा **(ते)** तेरा **(यज्ञपतिः)** यज्ञ का स्वामी, यज्ञकर्ता=यजमान भी उसे **(मा ह्वार्षीत्)** न छोड़े। धात्वर्थ के कारण 'यज्ञ' शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है

१. विद्या, ज्ञान और धर्माचरण से वृद्ध विद्वानों का इस लोक और परलोक के सुख की सिद्धि के लिए सत्कार करना, २- अच्छी प्रकार पदार्थो के गुणों के मेल और विरोधज्ञान की संगति से शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना एवं नित्य विद्वानों का संग करना, ३-शुभ विद्या, सुख धर्मादि गुणों का नित्य दान करना।।

(वसोः= वसुरयं यज्ञः पवित्रमसि..... अस्ति, द्यौरसि. .. भवति, पृथिव्यसि, मातरिश्वनो घर्मोऽसि, विश्वधा असि)

भावार्थः मनुष्याणां विद्याक्रियाभ्यां सम्यगनुष्ठितेन यज्ञेन पवित्रता, प्रकाशः, पृथिवी, राज्यं, वायुप्राणवद्राज्यनीतिः, प्रतापः, सर्वरक्षा

अस्मिंल्लोके परलोके च परमसुखवृद्धिः, परस्परमार्जवेन वर्तमानं, कुटिलतात्यागश्च जायते।

अतएव सर्वैर्मनुष्येः परोपकाराय, विद्या-पुरुषार्थाभ्यां, प्रीत्या यज्ञो नित्यमनुष्ठातव्य इति।।१।२।।

भावार्थ मनुष्यों को विद्या और क्रिया के द्वारा विधिपूर्वक किये यज्ञ से पवित्रता, प्रकाश, पृथिवी, राज्य, वायु अर्थात् प्राण के तुल्य राज्यनीति, प्रताप, सबकी रक्षा

इस लोक और परलोक में परम सुख की वृद्धि, परस्पर सरलता से वर्ताव और कुटिलता त्याग की प्राप्ति होती है।

इसलिए सब मनुष्यों को परोपकार के लिए विद्या और पुरुषार्थ से प्रीतिपूर्वक यज्ञ नित्य करना चाहिए।।१/२।।

❑❑

बस न्याय-व्यवस्था के साथ अन्याय न हो

धर्मपाल आर्य

महर्षि मनु द्वारा प्रदत्त भारत की न्याय प्रणाली विश्व की सबसे पुरानी प्रणालियों में से एक हैं हमारे धर्मिक ग्रंथों से लेकर प्राचीन किस्से कहानियों में न्याय के बडे-बडे उल्लेख मिलते हैं। आरम्भ से हमारे भारतीय व्यवस्थाकारों ने समाज एवं मनुष्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिए जिन मान्य परंपराओं, प्रथाओं तथा विधानों को लिपिबद्ध किया है, उन्हीं नियमों को विधि और कानून की संज्ञा प्रदान की गयी। समय के साथ न्याय व्यवस्था नाम के साथ बदलती रही और आज भारत में न्याय का स्रोत हमारा संविधान है।

लेकिन आज न्याय और संविधान पर कुछ प्रश्नचिन्ह लगते दिखाई दे रहे हैं। सबने देखा, अभी हाल ही में हरयाणा में चुनाव नतीजे आने के बाद एक बार फिर न्याय व्यवस्था पर सवाल उठा है। जननायक जनता पार्टी के मुखिया दुष्यंत चौटाला के भाजपा के समर्थन की घोषणा करने के २४ घण्टों के अंदर शिक्षक भर्ती घोटाले में दुष्यंत के सजायाफ्ता पिता अजय चौटाला को तिहाड़ जेल से छुट्टी मिल गई है। हालांकि कहा जा रहा है कि फरलो देने का विधान तो कानून में है लेकिन उसकी भी अहम शर्त यही है कि कैदी का आचरण सही रहा हो तो फरलो दी जा सकती है पर यह फरलो अजय चौटाला को ही यकायक क्यों दी गयी एक आम नागरिक यह बखूबी समझ रहा है।

न्यायपालिका परेशान लोगों के लिए सांत्वना का माध्यम है, निराश लोगों के लिए आशा की किरण है, गलत काम करने वाले लोगों के लिए भय का कारण है तथा कानून का पालन करने वाले लोगों को राहत देती है। यह आम समाज के लिए एक ऐसी शरण स्थली है, जहां गरीब और अमीर दोनों को ही आसानी से न्याय मिलता है और न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठने वाले लोगों के लिए यह एक सम्मान और गौरव का स्थान हुआ करती है परन्तु बदलती परीस्थितियों मे देखा जाये तो आज बुरे लोग इसकी परवाह ही नहीं करते, चालाक लोगों ने तो इसे मजाक बना रखा है और जब कानून का पालन करने वाले लोग ही इससे डरे-से लगते हैं तो फिर न्याय व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगेगा। विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और मीडिया ये लोकतन्त्र के चार स्तम्भ हैं और इन्हें मजबूत बनाए रखना हम सबका दायित्व है।

मीडिया, कार्यपालिका, विधायिका को एक पल के लिए यदि नजरंदाज कर भी दिया जाये क्योंकि कार्यपालिका पूरी तरह विधायिका की कृपापात्र बनी रही है, मीडिया इनकी सेवा में लगी है। जिसमें वही जा सकता है, जिसके पास शिक्षित होने के लिए धन और पहुंच हो। लेकिन न्यायपालिका अगर कमजोर हो गयी तो इसका असर समस्त समाज और राष्ट्र पर पड़ेगा। कारण जब देश के नीति निर्धारक ही न्यायालय के बहुत से निर्णयों का पालन नहीं करेंगे, जब सरकारें खुद ही सर्वोच्च न्यायालय का सम्मान नहीं करेंगी तो एक आदमी उसका सम्मान करने के लिए कैसे प्रेरित हो सकता है? लेकिन हमेशा ऐसा नहीं रहा है। भारतीय संविधान का इतिहास बिल्कुल अलग किस्म के दो तथ्य हमारे सामने रखता है, एक तथ्य है १९५०-७० का, जब संसद अलग-अलग हितधारकों की युद्धभूमि बनी हुई थी और दूसरा तथ्य है १९७३ में न्यायपालिका, संविधान में मनमर्जी से संशोधन करने की उस वक्त की प्रधानमंत्री की इच्छाओं के आगे दीवार की तरह खड़ी हो गई थी। इससे चिढ़ कर तत्कालीन सरकार ने एक प्रतिबद्ध न्यायपालिका का विचार सामने रखा। कहा जाता है कि उस दौर में प्रख्यात जजों के साथ कठोरता का पालन किया गया था। तब से लेकर अब तक न्यायपालिका को सरकारों द्वारा अपना आज्ञाकारी बनाने की कोशिश होती रही है। हालांकि २४ अप्रैल, १९७३ को सुप्रीम कोर्ट द्वारा 'केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य' के

मामले में दिए गए एक ऐतिहासिक फैसले के चलते देशवासियों का न्यायालय के प्रति निष्ठा एवं सम्मान जागा और न्यायालय सभी के लिए आशा की अंतिम किरण बन गया। परन्तु इसके कुछ ही समय पश्चात शहबानो के मामले में तत्कालीन राजनेताओं द्वारा फिर से न्यायालय को कमजोर करने का प्रयास किया गया।

पिछले दिनों आसाराम और रामरहीम के मामले में भी न्यायपालिका पर लोगों का भरोसा बढ़ा। लोगों को लगा कि भारत की न्यायव्यवस्था अब ताकतवर हो गई। किन्तु अब लगता है जैसे घटनाओं को भी समय के तराजू पर तौलकर देखा जाता है कि कब, कैसे, और किस के लिए इंसाफ मांगना है, किसकी सजा तय करनी है इसका भी निर्णय मौका देखकर ही करना है। यह बेहद अफसोसजनक है कि आजकल हर मामले, मसले, मुद्दे एवं समस्या को सियासी और मीडियायी चश्मे से देखा जाता है। न्यायिक चश्मा गायब होगा तो नतीजतन कुछ ऐसी घटनाएं सामने आती हैं, जिनमें न्यायपालिका केस के तथ्यों की बजाय जनभावना के बारे में अधिक चिंतित नजर आती है। मीडिया और राजनीति अप्रत्यक्ष रूप से न्याय व्यवस्था को प्रभावित करता है। जो बात न्याय के अनुसार तथ्यात्मक रूप से सही होती है, उसे राजनीतिक रूप से प्रस्तुत किया जाता रहा है। राजनीति, न्यायपालिका, मीडिया और आम लोगों के बीच की यह स्थिति बहुत जटिल है, इतनी जटिल स्थिति में इस समस्या का समाधान निकालना बहुत जरूरी है। क्योंकि इसके लिए बहुत से स्तरों पर सुधार की आवश्यकता होगी, पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके लिए एक बहुत ही सजग समाज की आवश्यकता होगी। साथ ही न्याय व्यवस्था और हमारा न्यायालय एक सम्मानीय स्थल होने चाहिए, ताकि ईमानदार लोग उसे एक पवित्र स्थान की तरह सम्मान दे सकें, जहां वे कानून से असुरक्षित अनुभव करने की बजाय सुरक्षित अनुभव कर सकें।

महर्षि दयानन्द अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में लिखते हैं -

''और जो पवित्रात्मा सत्याचार और सत्पुरुषों का संगी यथावत नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान है वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है। इसलिए सब सेना और सेनापतियों के उपर वर्तमान सर्वाधीष राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण पूर्ण विद्यावाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिए।''

❑❑

विनम्र अपील

दयानन्द सन्देश के समस्त सम्मान्य सुविज्ञ पाठकों की सेवा में विनम्र निवेदन है कि 'दयानन्द सन्देश' का शुल्क कई दशकों से यथावत चला आ रहा है, जबकि कागज, कम्पोज और प्रिण्टिंग आदि का व्यय कई गुना बढ़ा है। यह भी सर्वविदित है कि हम किसी प्रकार का विज्ञापन भी 'दयानन्द सन्देश' में नहीं देते।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि 'दयानन्द सन्देश' के स्थापनाकाल (लगभग ५० वर्ष) से अब तक आजीवन सदस्यों से पुनः कोई शुल्क नहीं लिया गया है। अतः बहुत विचार-विमर्श के बाद निर्णय लिए गए-

सदस्यता का नवीनीकरण किया जाए। जिसके लिए शुल्क विवरण निम्न प्रकार है -

वार्षिक शुल्क :- १५० रुपए
पंचवर्षीय शुल्क :- ५०० रुपए
आजीवन शुल्क :-११०० रुपए (१५ वर्ष)

आप निम्न खाते में उपर्युक्तानुसार शुल्क जमा करा सकते हैं -

खाता धारक : **आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट**
बैंक : यूनियन बैंक ऑफ इंडिया,
अशोक विहार शाखा, दिल्ली
खाता क्रमांक : 307304010011320
IFSC : UBIN0539660

आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि आप सबका स्नेहपूर्ण सहयोग मिलेगा।

दिनेश कुमार शास्त्री, व्यवस्थापक
दूरभाष : ९६५०५२२७७८

शिक्षा, समाज और राजनीति

ओम प्रकाश शास्त्री, पानीपत, मो. 09416988351

शिक्षा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का सशक्त साधन है। बिना शिक्षा के हम सभ्य, सशक्त, सक्षम, सर्वगुण सम्पन्न और सुदृढ़ समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते। बिना शिक्षा के समाज असभ्य, अशक्त, असमर्थ, गुणहीन और निर्बल होता है। शिक्षा कैसी हो यह विषय मेरे मतानुसार विचारणीय तो हो सकता है। लेकिन बहस का विषय बिल्कुल नहीं। लेकिन खेद है कि आज शिक्षा जैसे विषय को भी कुछ लोगों ने विचारणीय कम विवाद का विषय अधिक बनाने की कोशिश की है। शिक्षा जैसे पावन विषय को विवाद का विषय बनाना अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। शिक्षा मौलिक अधिकार, मौलिक आवश्यकता और मौलिक आधार है। यदि व्यक्ति, समाज व राष्ट्र इस अधिकार, आवश्यकता और आधार से हीन है तो उस व्यक्ति का व्यक्ति होते हुए भी अस्तित्व नहीं है, समाज होते हुए भी समाज का अस्तित्व नहीं है तथा राष्ट्र होते हुए भी वह अस्तित्वहीन है। जातिवाद, प्रान्तवाद, भाषावाद, शिक्षा पर मजहबी जुनून और यदि वोट बैंक हावी होगा तो शिक्षा का ताना-बाना उलझकर रह जाएगा और शिक्षा के पावन उद्देश्य उपरोक्त वादों के व्यूह में फंस जाएंगे, इसका दुष्परिणाम यह होगा कि व्यक्ति समाज और राष्ट्र निर्माण की संभावनाएं समाप्त हो जाएंगी। व्यक्ति सच्चे अर्थों में तभी व्यक्ति बनने में समर्थ होगा जब वह शिक्षित होगा, समाज भी सच्चे अर्थों में समाज तभी बनेगा जब वह शिक्षित होगा और राष्ट्र भी सच्चे अर्थों में राष्ट्र तभी बनेगा जब वह शिक्षित होगा। यही चर्चा जब मैं अपने एक मित्र से कर रहा था तो वे मेरे उपरोक्त मंथन पर प्रतिक्रिया देते हुए बोले- शास्त्री जी! क्या आज का व्यक्ति, आज का समाज और आज का राष्ट्र आपको अशिक्षित नजर आता है। मैंने उनके प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व एक प्रश्न किया कि आपके अनुसार एक शिक्षित व्यक्ति, एक शिक्षित समाज और एक शिक्षित राष्ट्र की क्या पहचान है और उसके क्या मापदण्ड हैं? क्या केवल साक्षर व्यक्ति, साक्षर समाज और साक्षर राष्ट्र को ही आप शिक्षित व्यक्ति, शिक्षित समाज और शिक्षित राष्ट्र मानते हैं?

जब मैंने उक्त प्रश्न किए तो उन्होंने मेरे प्रश्नों को ही उत्तर मानते हुए कहा कि ''साक्षर होना शिक्षित होने का मापदण्ड नहीं है तथा साक्षर होने और शिक्षित होने में रात दिन का अन्तर है। उसके साथ साथ साक्षर होने और शिक्षित होने के उद्देश्य में भी काफी अन्तर है। जितना पुरुषार्थ किसी को साक्षर करने के लिए आवश्यक है उससे कई गुना अधिक पुरुषार्थ शिक्षित करने के लिए अपेक्षित है।

अथर्ववेद में शिक्षा का और उसके उद्देश्यों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य सूक्त समस्त शिक्षा व्यवस्था और उसके उद्देश्यों, महत्वों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करता है। अथर्ववेद में आता है।। आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

इसके अतिरिक्त दूसरे मन्त्र में कहा गया है-

''ब्रह्मचारी समिधा मेखया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। अर्थात् - आचार्य अन्तेवासी का उपनयन करते हुए उसे अपने नियन्त्रण में रखते हैं और ब्रह्मचारी समिधा, मेखला और विधाध्ययन के लिए तप करते हुए लोकों (समाज व राष्ट्र) का विद्या द्वारा उसके पालन

(रक्षा) में अपनी भूमिका निभाता है। समिधा यज्ञ का, तो मेखला और ब्रह्मचर्य व्रत का उपदेश करते हैं, जैसे अग्निहोत्र में समिधा अग्नि स्वरूप हो जाती है। ब्रह्मचारी भी विद्यारूपी यज्ञ में खुद को समिधा बनकर समर्पित करके विद्यावान हो जाता है और विद्या के तेज से शिक्षा के बल से लोक (समाज व राष्ट्र) को भी विद्या के तेज से आलोकित करता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली और प्राचीन शिक्षा प्रणाली के मौलिक अन्तर को मैं जितना समझ पाया हूं उसके अनुसार वर्तमान शिक्षा में भौतिकवाद प्रधान है जिसके कारण इस शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत हम पढ़ने और पढ़ाने वाले भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं जिसे मैं बाह्य उद्देश्यों (सांसारिक सुख साधनों) की प्राप्ति का साधन भी कह सकता हूं। क्योंकि वर्तमान शिक्षा में प्रायशः उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही अधिक पुरुषार्थ किया जाता है। इसमें व्यक्ति का आन्तरिक निर्माण अथवा व्यक्तित्व विकास का कार्य या तो है नहीं, यदि है भी तो केवल नाम मात्र के लिए। इसके अतिरिक्त वर्ममान शिक्षा प्रणाली रोजगार और आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से बुरी तरह प्रभावित हैं। इसके विपरीत प्राचीन शिक्षा प्रणाली व्यक्तित्व विकास, चरित्र निर्माण, समाज व राष्ट्र निर्माण जैसे आन्तिरिक उद्देश्यों पर आधारित होती थी। प्राचीन शिक्षा प्रणाली आन्तरिक और बाह्य दोनों ही उद्देश्यों की प्राप्ति का एक सशक्त साधन होती थी।

पाठक सोच रहे होंगे कि प्राचीन शिक्षा प्रणाली और आधुनिक शिक्षा प्रणाली का बहाना लेकर मैं आधुनिकता के पथ पर तेजी से चलते समाज की नकारात्मक समीक्षा करने लगा हूं। किन्तु ऐसा नहीं है। सत्य यह है कि हमारा समाज (राष्ट्र) जब से प्राचीन शिक्षा प्रणाली से मुक्त हो पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की छाया के शिकंजे में आया है तब से हमारा सामाजिक और पारिवारिक जीवन तनाव और समस्याग्रस्त हो गया है। समाज किसको कहते हैं। सामान्यत समूह ही समाज कहलाता है। समूह में रहना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। मनुष्य समाज (समूह) में रहकर ही अपनी उन्नति (विशेषकर सांसारिक उन्नति) कर सकता है। मनुष्य समाज में रहकर ही अपने उद्देश्य निर्धारित कर उनकी प्राप्ति का पुरुषार्थ कर सकता है। समाज (समूह) में रहकर ही मनुष्य मानव जीवन की बहुत सी मान्यताओं से परिचित होता है। समाज (समूह) में रहकर ही मनुष्य पारस्परक सहयोग, लेना देना और आन्तरिक भावनाओं का आदान प्रदान करना सीखता है। इस प्रकार मैं कह सकता हूं कि समाज (समूह) मनुष्य को मानवता का, सामूहिक उत्तरदायित्व का, कर्तव्य पालन का पाठ पढ़ाने की पाठशाला है। सांसारिक सुखों तथा उसके साधनों को भोगने व पाने का केन्द्र (साधन) है। सम्भवतः यही कारण है जब हमारे मनीषियों, दार्शनिकों और विचारकों ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। सुखों को पाने का साधन तथा उनको भोगने का केन्द्र समाज, उत्तरदायित्वों निभाने और कर्तव्यों का पाठ पढ़ाने वाली पाठशाला के समान समाज कैसा हो? यह प्रश्न सबके लिए विचारणीय है। समाज जब मनुष्य जीवन का इतना महत्वपूर्ण घटक है तो वह कैसा हो? इस पर गम्भीर आत्मंथन आवश्यक है। वतमान समाज जिस प्रकार की शिक्षा और सभ्यता की बुनियाद पर टिका है, उसमें बहुत से झोल हैं।

हमारे समाज को जिस शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता है उस पर वर्तमान में कभी गम्भीरता से सामाजिक अथवा राजनीतिक स्तर पर विचार हुआ है। ऐसा मुझे लगता नहीं क्योंकि यदि विचार किया जाता तो वर्तमान शिक्षा में नैतिकता, व्यक्तित्व विकास, चरित्र

निर्माण, सदाचार और शिष्टाचार का अभाव नहीं होता। छात्रवर्ग में अपराधी पवृत्ति नहीं पनपती, माता-पिता, शिक्षक तथा बुजुर्गों के सम्मान में गिरावट नहीं आती। वर्तमान शिक्षा का ढांचा मैं कह सकता हूं, पूरी तरह से पाश्चात्य दर्शन पर आधारित है। पाश्चात्य दर्शन हमारी शिक्षा व्यवस्था को कभी समुचित दिशा प्रदान नहीं कर सकता। इसके बाद भी हमारे समाज में पाश्चात्य दर्शन प्रभावित शिक्षा को ही थोप दिया गया है जिसमें न भारतीय संस्कृति की झलक है, जिसमें न धर्म की शिक्षा है न ही परोपकार की प्रेरणा है। केवल नाम मात्र की नैतिक शिक्षा की किताब लगाकर हमने अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर ली है।

शिक्षा, समाज और राजनीति कहीं न कहीं प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से न्यूनाधिक एक दूसरे के पूरक हैं। पुनरपि इन सबमें शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण है। मेरा ऐसा मानना है कि राजनीति समाज की एक बाह्य आवश्यकता है जबकि शिक्षा समाज की बाहृय और आन्तरिक दोनों ही आवश्यकताएं हैं। यदि मुझसे कोई पूछेगा कि आप शिक्षा और राजनीति में किसे समाज के लिए वरदान मानते हैं तो मेरा स्वाभाविक उत्तर होगा- शिक्षा, शिक्षा और शिक्षा। राजनीतिक का जब से शिक्षा में हस्तक्षेप हुआ, तब से शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था लड़खड़ाती सी नजर आ रही हैं। राजनीतिक दल जब सत्तासीन होते हैं, तो वे अपनी सुविधानुसार शिक्षा अैर समाज को दिशा-दशा निर्धारित करने वाली नीतियों का निर्माण करते हैं।

राजनीति, समाज और शिक्षा को लेकर हमारे विचारकों ने जो मापदण्ड तय किए हैं उनके अनुसार यदि हमारी शिक्षा चारित्रिक, नैतिक आध्यात्मिक, मानवीय और सामंजस्य के उद्‌दशें को प्राप्त करने वाली है तो हमारा समाज भी नैतिक, आध्यात्मिक, चारित्रिक तथा मानवीय गुणों से परिपूर्ण होगा। उपरोक्त गुणों से परिपूर्ण समाज सुलझी राजनीति का जनक बनेगा। हमारे राजनीतिक दल और दल के नेता या तो किंकर्तव्यविमूढ़ हैं या फिर वे किंकर्तव्यविमूढ़ होने का नाटक करते हैं। राजनीति में शिक्षा हो यह निर्विवाद तथ्य है। लेकिन शिक्षा में राजनीति का होना शिक्षा, समाज और राजनीतिक के लिए भी दुर्भाग्यपूर्ण हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती शिक्षा और राजनीति पर सत्यार्थ प्रकाश में अपना व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। द्वितीय व तृतीय समुल्लास महर्षि जी ने विद्या (शिक्षा) को समर्पित किए हैं। जबकि राजधर्म अथवा राजनीति के लिए उन्होंने केवल एक समुल्लस (छठा) लिखा। इससे शिक्षा और राजनीति के महत्व के अन्तर को सहजता से समझा जा सकता है। राजनीति को शिक्षा की सेविका होना चाहिए, स्वामिनी नहीं। वर्तमान समाज में जो शिक्षा दी जा रही है वह शिक्षा परिणाम में दासत्व वाली है जिसका वर्णन राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भारत भारती में कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

दासत्व के परिणाम वाली आज है शिक्षा यहां।
हैं मुख्य दो ही जीविकाएं भृत्यता भिक्षा यहां।।
या तो कहीं बनकर मुहर्रिर पेट का पालन करो।
या मिल सके तो भीख मांगे अन्यथा भूखो मरो।।

शिक्षा यदि दासत्व के परिणाम वाली है तो उसका एकमात्र कारण है क्षुद्र राजनीति और तदाधारित स्वार्थ। हमें यदि व्यक्ति, राष्ट्र और समाज को विषमता, विडम्बना, विद्रूपता, वैमनस्य और व्यसन व्यूह से निकालना है तो शिक्षा को अवसरवादी राजनीति की काली छाया से मुक्त करना होगा और समाज के नव निर्माण की दिशा में निर्णायक कदम बढ़ाना होगा। तभी ऋषियों, महर्षियों, योगियों, मनीषियों और देशभक्त क्रान्तिकारियों के सपनों के व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का निर्माण संभव होगा।

❑❑

प्रश्नोपानिषद् में प्रथम प्रश्न का रहस्य

(उत्तरा नेरूर्कर, मो. ०९८४५०५८३१०)

प्रश्नोपनिषद् में प्रथम प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद एक विचित्र उत्तर देते हैं जिसका सम्बद्ध अर्थ करना कठिन हो जाता है। मैंने किसी भी भाष्य में उसके निहित अर्थ का विवरण नहीं पाया। मेरी समझ में जो उसका अर्थ आया है, उसको इस लेख में निरूपित कर रही हूं।

प्रश्न उपनिषद् में प्रसिद्ध ऋषि पिप्पलाद का उपदेश एक कथानक के रूप में उपलब्ध होता है। एक समय, छः ब्रह्मजिज्ञासु, जो कि स्वयं वेदवित् थे, फिर भी ब्रह्म की जिन्हें खोज थी, पिप्पलाद मुनि की इस विषय में प्रसिद्धि सुन कर, विधिवत् हाथ में समिधा लेकर उनके आश्रम पहुंचे। जैसा कि उस समय प्रथा थी, पिप्पलाद ने उनको वर्षभर आश्रम में तप, ब्रह्मचर्य व श्रद्धा का पालन करते हुए आश्रम में रहने को कहा और यह भी कहा कि फिर तुम मुझसे अपने प्रश्न पूछ लेना, यदि मैं उनके उत्तर जानता होऊंगा, तो अवश्य ही सब बता दूंगा। यह वचन महर्षि की विनम्रता का द्योतक है।

वर्षोपरान्त, प्रतिज्ञानुसार, महर्षि आए हुए जिज्ञासुओं की इच्छापूर्ति के लिए उद्यत हुए। तो कबन्धी कात्यायन ने प्रथम प्रश्न पूछा, "भगवन् ! ये विभिन्न रूपों वाली प्रजाएं (जीव) किस कारण से उत्पन्न हुई हैं?" इसके उत्तर में जो ऋषि बोले, वह बड़ा ही दुरूह है और उत्तरोत्तर वाक्य असम्बद्ध जैसे लगते हैं। पहले हम प्रसिद्ध व्याख्या को देखते हैं। अनन्तर मेरे विचार प्रस्तुत हैं -

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥१।४॥

अर्थात् उस (कबन्धी) से वे (पिप्पलाद) बोले, "प्रजाओं के पालक ने प्रजा की कामना की। इसके लिए उसने तप (रूपी संकल्प) किया। उस तप से तपकर, उसने एक जोड़े को उत्पन्न किया। वह था रयि (धन) और प्राण (जीवनी-शक्ति)का जोड़ा। ये दोनों मेरी/मेरे लिए अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न करेंगे (यह उसने संकल्प किया)।"

यहां स्थूलभूतों को **रयि** माना गया है और चेतना-शक्ति को प्राण। परन्तु चेतना-शक्ति तो जीवात्मा है, **प्राण** अपने-आप में तो चेतन नहीं हैं ! तो फिर **प्राण** को भौतिक प्राण न मानकर, आत्मा समझना चाहिए। वैसे तो **प्राण** सूक्ष्म शरीर का अवयव है, तथापि, क्योंकि जीवात्मा की स्थिति ही प्राणों को प्रेरित करती है, इसलिए जीवात्मा को प्राण कहने में पुरानी पद्धति में दोष नहीं माना जाता था। अब **रयि** को यदि केवल स्थूलभूत मानें, तो फिर बुद्धि, मन, इन्द्रिय, आदि, सूक्ष्मभूतों को कहां गिनें? सो, उनको भी **रयि** में गिनना चाहिए। और ये प्रकृति के कार्य ही जीवात्मा के धन होते हैं, चाहे वह सुवर्णादि हों, चाहे पशुधनादि हों, चाहे विद्याबुद्धि आदि हों। इसलिए इन सब कार्यों को **रयि** कहने में भी कोई दोष नहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि प्राकृतिक कार्यों और जीवात्माओं की बनी है - यह पिप्पलाद मुनि का उपदेश हुआ।

आगे पिप्पलाद कहते हैं-

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः॥१।५॥

अर्थात् निश्चय से, आदित्य ही प्राण है। और रयि ही चन्द्रमा है, जो कि सब मूर्त और अमूर्त वस्तुएं हैं;

इसलिए मूर्ति = मूर्त पदार्थ ही रयि हैं।

यहां से पिप्पलाद के कथन की विचित्रता प्रारम्भ हो जाती है। पहले तो स्पष्टत: ही यहां वचनविघात प्रतीत होता है – चन्द्रमा को रयि कहा, उसको मूर्त और अमूर्त कहा, फिर केवल मूर्त कह दिया ! इसीसे यह ऊहा कर लेनी चाहिए कि इस उपनिषद् में वचन सीधे-सरल नहीं हैं, कुछ सोच-विचार की अपेक्षा रखते हैं। तथापि यहां सामान्य अर्थ पहले देखते हैं -यहां आदित्य के अर्थ दृष्ट सूर्य किए जाते हैं और चन्द्रमा के दृष्ट चांद। तब अर्थ बनता है – सूर्य जीवन का आधार है, इसलिए वह प्राणस्वरूप है। चांद प्राणियों के शरीरों का पोषण करता है, इसलिए वह रयिस्वरूप है। यहां, पहले तो चांद शरीर का पोषण कोई विशेष रूप से नहीं करता, प्रत्युत सूर्य ही प्राणियों का मुख्य पोषक है – पेड़ों से लेकर मनुष्यों तक। दूसरे, पिछले वचन में हमने प्राण को आत्मा माना था, परन्तु आत्मा तो सूर्य पर निर्भर नहीं है। तथापि जीव के लिए आवश्यक होने के कारण, हम कुछ क्षण के लिए इसे प्राण मान भी लें, तब भी चांद की समस्या बनी रहती है।

विचारने पर मुझे समझ में आया कि वस्तुत: यहां 'आदित्य' व 'चन्द्रमा' के यौगिक अर्थ हैं, लौकिक नहीं जिनका कि उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग किया गया था। आदित्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है – तोड़ने के अर्थ वाली 'दो अवखण्डने' धातु से नञ् + क्विप् + इत् (द्यतिस्यति० ।।अष्टा० ७।४।४०।। सूत्रेण) ->अदिति: + ण्य (दित्यादित्यादित्य० ।।अष्टा०४।१।८५।। सूत्रेण) -> आदित्य। अर्थात् आदित्य का अर्थ है 'जिसको तोड़ा न जा सके, नष्ट न किया जा सके, वह'। क्योंकि आत्मा को नष्ट नहीं किया जा सकता, परिणाम-रहित होने से जो खण्डन- वा नाश-रहित है, सो आत्मा को पिप्पलाद 'आदित्य' कह रहे हैं, सूर्य से सम्बद्ध होने के कारण नहीं !

इसी प्रकार चन्द्रमा की व्युत्पत्ति देखते हैं – आह्लाद व दीप्ति अर्थ वाली 'चदि आह्लादने दीप्तौ च' + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चिवञ्चि० ।।उणादि० २।१३।। सूत्रेण) + 'माङ् माने शब्दे च' + असि प्रत्यय (चन्द्रे मो डित् ।।उणादि० ४।२२८।। सूत्रेण) -> चन्द्रमस्। इस प्रकार आह्लादजनक अथवा दीप्तिमान वस्तु को 'चन्द्रमा' कहेंगे। इस सन्दर्भ में पहला अर्थ ही उपयुक्त है – धन इसलिए धन कहा जाता है कि वह आह्लाद या सुख उत्पन्न करता है। इसलिए पिप्पलाद ने रयि को चन्द्रमा कहा है। हां, अवश्य ही यहां सूर्य और चांद के नामों से समानता के कारण, और सूर्य-चांद की जोड़ी सुप्रसिद्ध होने के कारण यहां श्लेषालङ्कार से अर्थ को छिपाकर केवल ज्ञानियों के लिए यह विद्या उपलब्ध हो, इसलिए ऐसी वाक्य-रचना की गई है, ऐसा प्रतीत होता है।

आगे पिप्पलाद कहते हैं-

अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।।१।६।।

अर्थात् फिर आदित्य उदय होता हुआ जो प्राची दिशा में प्रवेश करता है, उससे प्राची दिशा के प्राणों को रश्मियों में धारण करता है। जो दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर व उनके बीच की दिशाओं अर्थात् सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है, उस द्वारा सारे प्राणों को रश्मियों में धारण करता है।

पुन: यहां दृष्ट सूर्य के अर्थ ही प्रतीत होते हैं कि जहां-जहां सूर्य की किरणें पहुंचती हैं, वहां-वहां जीवनी-शक्ति उपलब्ध होती है। परन्तु इसमें तो कुछ भी विशेष नहीं है ! दूसरी ओर, यदि हम जीवात्मा के अर्थ लें, तो एक नया ज्ञान प्राप्त होता है -अविनाशी जीवात्मा जब शरीर में आगमन करता है, तो वह

शरीर के विभिन्न अंगों में 'रश्मियों' के द्वारा प्राणों को धारण करता है और सम्पूर्ण शरीर को ज्ञानयुक्त कर देता है, वा सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान उसे होने लगता है। यहां 'रश्मि' का बहुत विशेष अर्थ है। सामान्य अर्थ 'किरण' तो सभी को ज्ञात है, परन्तु इसका एक विशेष अर्थ है – लगाम। इस शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है – अशूङ् व्याप्तौ अथवा अश भोजने + मि प्रत्यय + अ को रश् आदेश (उणादि० ४।४६) और "रश्मिः यमनात् (निरु० २।१५)" अर्थात् नियन्त्रक। एक और विचित्र अर्थ शतपथ ब्राह्मण में मिलता है – अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन् ।। श० ६।१।२।३।। और जो सिर में रस से लिप्त था, वह रश्मियां हो गया। यहां खोपड़ी के अन्दर के जल से लिपटे मस्तिष्क और उसमें से किरणों के समान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने वाली विद्युत्-युक्त नाड़ियों का कथन है। इन नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क पूरे शरीर को नियन्त्रित करता है, जैसे घोड़ों को लगाम से किया जाता है। इस अर्थानुसार,उपनिषद् वाक्य में कहा गया है कि जीवात्मा मस्तिष्क में घर करके, मस्तिष्क और उसकी नाड़ियों द्वारा पूरे शरीर में जैसे व्याप्त होकर, उसे धारण करता है और अपने आदेशानुसार चलाता है। यह हुआ इसका श्लेषालंकार द्वारा प्रस्तुत विशेष अर्थ !

अब देखते हैं अगला वाक्य–

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्।।१।७।।

अर्थात् वह यह वैश्वानर, विश्वरूप प्राण(–रूपी) अग्नि उदय होती है, ऐसा इस अगली ऋचा में कहा गया है।

यहां सूर्य के अर्थ में इस प्रकार व्याख्या की जाती है –प्राणियों के शरीरों में सूर्य ही वैश्वानर अग्नि = जठराग्नि का कारण है, वहीं विश्वरूप प्राण = पञ्च प्राणों के रूप में विद्यमान है। यहां 'वैश्वानर' पद को दो पदों के अवसान पर आने वाले 'अग्नि' पद से जोड़ा गया है। इस प्रकार की वाक्य-रचना सम्यक् नहीं मानी जा सकती ! पुनः, सूर्य को जठराग्नि से जोड़ना कुछ अटपटा लगता है – कुछ जीवों में तो जठराग्नि होती भी नहीं, जैसे कि वृक्ष !

आत्मा-रूप में यहां पुनः सुन्दर अर्थ निकलते हैं – आत्मा सभी नरों = मनुष्यों अथवा प्राणियों में विद्यमान होने से 'वैश्वानर' है। वह सब शरीरों का रूप धारण करने में सक्षम होने से 'विश्वरूप' है। वह प्राण का भी 'प्राण' है। वह शरीर में ज्ञान उत्पन्न करने वाला 'अग्नि' है।

जिस ऋचा का ऋषि ने आगे कथन किया है, वह भी इस अर्थ की सम्पोषक है–

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।।१।८।।

अर्थात् विश्वरूप, (हरिणम्=) शरीर को गति देने वाला, (जातवेदसम् =) सब जन्म लेने वाले जीवों में प्राप्त, (परायणम् =) शरीर का आधार, (ज्योतिः एकम् =) सब ज्ञानों का एक आधार, तपता हुआ (शरीर को तपाने वाला), अनेकों नाड़ियों से अनेकों प्रकारों से शरीर में वर्तमान (विद्युत्-नाड़ी, रक्त-नाड़ी, आदि, आदि), प्रजाओं का प्राण, यह सूर्य = प्रेरक उदय होता है।

अगला वाक्य है–

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः।।१।९।।

अर्थात् संवत्सर ही प्रजापति है। उसके दक्षिण और उत्तर अयन हैं। जिन्होंने इष्ट (यज्ञादि) व/अथवा पूर्त (सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक) परोपकार कर्म किए हैं, वे चन्द्रमा-लोक को जीतते हैं। वहां से वे पुनः लौटते हैं (संसार में जन्म लेते हैं)। इस प्रकार, जो प्रजा (परिवार आदि) की कामना करने वाले ऋषि हैं, वे दक्षिण अयन पर चलते हैं। यही रयि है जो पितृयाण कहलाता है।

यहां स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'संवत्सर' का लौकिक अर्थ 'वर्ष' प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु कुछ अन्य अर्थ अभिप्रेत है। जब हम यौगिक अर्थ ढूढ़ते हैं, तब हमें वह गूढ़ अर्थ प्राप्त होता है। संवत्सर की निष्पत्ति इस प्रकार है -सम् + वस निवासे + सरन् प्रत्यय (उणादि० ३।७२) + तकारादेश (अष्टा० ७।४।४९) -> संवत्सर। इस 'सम्यक् वास' अर्थ को निरुक्त और स्पष्ट करता है- संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि - जिस (परमात्मा) में सब उत्पन्न पदार्थ भली प्रकार वसते हैं, इसलिए उसका नाम संवत्सर है। वही परमात्मा यहां प्रजापति नाम से कहा गया है। उसके जैसे दो पार्श्व हैं - एक में रयि है, एक में प्राण। रयि पितृयाण से सम्बद्ध है जिसमें धनों द्वारा विभिन्न सांसारिक भोगों की प्राप्ति होती है।

प्राण के विषय में ऋषि कहते हैं -

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥१।१०॥

अर्थात् उनसे अन्य (ऋषि) उत्तर अयन से गति करते हुए, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्या द्वारा अपनी आत्मा को ढूंढ़कर, आदित्य को सेवते हैं। यह (आदित्य) ही प्राणों का आयतन = परम पद है, अमृत (पद) है, अभय (पद) है, परम आश्रय है। उससे फिर वह (जीवात्मा) लौट कर नहीं आता। यह (जन्म-मरण चक्र का) निरोध है।

यहां पुनः स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य का उत्तरायण तो होता है, परन्तु उसकी यहां चर्चा नहीं हो रही, अपितु आत्मा की गति का विषय है। सो, जब वह आत्मा तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या में परिश्रम करता है, तब मोक्ष प्राप्त कर लेता है। (चांद के वसु होने पर मेरे पुराने लेख को यदि आप देखें, तो वहां कहीं चांद पर स्वर्ग होने और सूर्य पर मुक्तात्माओं के वास की सप्रमाण चर्चा की गई थी। इन वाक्यों में भी हम वही तथ्य पा रहे हैं।)

ऋषि का वचन यहीं पर समाप्त नहीं होता, इसके आगे ६ वाक्य और हैं। विस्तरभय से मैं उनका विवरण यहां नहीं दे रही हूं। मुझे आशा है कि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार आप स्वयं उनके अर्थ कर सकेंगे।

सार में, प्रश्नोपनिषद् के इस प्रथम अध्याय में हम पाते हैं कि इस ब्रह्माण्ड के दो भाग बताए गए हैं - एक संसार जहां जीवन-मरण और भोग का चक्र चलता रहता है और दूसरा मुक्तात्माओं का वास है जहां दुःख से छुटकारा होता है। इन दोनों में परमात्मा का कर्म विद्यमान है। इसलिए ये दो उसके दो अयन कहे गए हैं। यहां श्लेषालंकार द्वारा मूल विषय को जैसे ढक दिया गया है और सतह पर प्राण-रयि व सूर्य-चन्द्र का ग्रहण होता है। परन्तु ये विषय गौण हैं, इनका आध्यात्मिक परिपेक्ष में कम ही समन्वय है। उपनिषत्कार इसी प्रकार अनेक बार अपने तात्पर्य को गूढ़ कर देते हैं, सम्भवतः इस विद्या को कुपात्र से सुरक्षित रखने के लिए, क्योंकि कई उपनिषद् स्पष्टतः कहते हैं कि इस विद्या को दुर्जनों को न दें। जैसे ऊपर प्रदर्शित किया गया, सही अर्थ तक पहुंचने के लिए यौगिक अर्थों का आश्रय कभी-कभी समीचीन होता है।

❑❑

यज्ञ का आत्मा

महात्मा चैतन्य स्वामी, मोबाईल : ९४१८०५३०९२

कहते हैं कि एक बार महाराजा जनक ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया जिसमें दुनिया भर के आचार्यों, महात्माओं तथा विद्वानों को बुलाया। प्रवास आदि पर होने के कारण महामना उद्दालक जी को आमन्त्रण नहीं मिल पाया। वे धूप में बैठकर बड़े मजे से भुने हुये चने चबा रहे थे। जब उन्होंने बहुत से महात्माओं को राजभवन की ओर जाते हुऐ देखा तो उन्होंने उनसे पूछा कि आप लोग कहां जा रहे हैं। उनसे मुनि जी को मालूम हुआ कि महाराजा जनक ने बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया है। उद्दालक जी भी उन महात्माओं के साथ राजभवन की ओर चल दिए। जब वे सभी यज्ञस्थली पर पहुंचे तो यज्ञ लगभग प्रारंभ होने ही जा रहा था। कहते हैं कि महर्षि उद्दालक जी ने यज्ञ के व्यवहारिक स्वरूप के सम्बन्ध में वहां बैठे हुए सभी विद्वानों से कुछ प्रश्न पूछे जिनमें से एक था कि यज्ञ का आत्मा क्या है? जब कोई भी विद्वान् इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका तो यज्ञ कराने वाले ब्रह्मा से भी महर्षि ने यही प्रश्न किया मगर जब वे भी इनका उत्तर नहीं दे पाए तो सभी ने अपना-अपना स्थान छोड़ दिया तथा महामुनि उद्दालक जी से ही प्रश्न का उत्तर देने का निवेदन किया।

उद्दालक जी ने कहा- **स्वाहा वांग्वै यज्ञस्य आत्मा।** अर्थात् समर्पित हो जाना ही यज्ञ की आत्मा है। यज्ञ में यदि स्वहा शब्द का उच्चारण हो और आहुति न दी जाए तो भला यज्ञ कैसे चल सकेगा? इसीलिए कहा गया कि आहुति देने से ही यज्ञ की प्रक्रिया को सार्थकता प्राप्त हो सकती है। **अयन्त इध्म् आत्मा.....**जीवन यज्ञ में इस आत्मा को ईन्धन बनाना पड़ेगा तभी वास्तविक जीवन यज्ञ चल सकेगा। हमें समिधा बनना होगा। समिधा अर्थात् सम् उपसर्गपूर्वक 'इन्धि दीप्तौ' धातु से ही स्पष्ट है कि वह पदार्थ जो अग्नि को प्रदीप्त करने में अपना सर्वस्व अर्पित कर दे, समिधा कहाती है। समिधा और संगतिकरण में 'सम्' उपर्ग लगा है अतः समिधा की संगति इस प्रकार से लगाई जा सकती है- राजा यदि अग्नि हो तो प्रजाजन उसकी समिधाएं हैं, सेनापति यदि अग्नि हो तो सैनिक उसकी समिधा हैं, आचार्य यदि अग्नि है तो शिष्यमंडल उसकी समिधा है, परिवार यदि अग्नि है तो परिवारजन उसकी समिधा हैं, संस्था यदि अग्नि है तो सदस्य एवं कर्मचारी आदि उसकी समिधा हैं, समाज या संसार यदि अग्नि है तो भी समस्त प्रजाजन समिधा है....। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था को भी हम समिधा बनकर ही सार्थकता प्रदान कर सकते हैं.....। इससे आगे आत्मा यदि अग्नि हो तो इन्द्रियां व मन बुद्धि चित्त आदि समिधाएं हैं। समिधा यदि अपना समर्पण न करे तो हम किसी यज्ञ की कल्पना भी नहीं सकते हैं....मगर साथ ही यह भी ध्यान रहे कि वह समिधा गीली नहीं सूखी हुई हो अर्थात् पूर्ण समर्पण और श्रद्धा के साथ आहुत हो....। उपनिषदों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहां शिष्य समितपाणि और सूखी समिधाएं लेकर अपने आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने जाता था....यह दर्शाने के लिए कि मुझमें समर्पण भी है और श्रद्धा भी....। ऐसी स्थिति में ही **'स्तुता मया वरदा....'** पात्र को आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस, ब्रह्मलोक की प्राप्ति संभव होती है....

अयन्त इध्म आत्मा.... अपनी आत्मा को इध्म-समिधा बनाकर...आयु, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस और अन्न की उपलब्धि सम्भव है...........। समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोध यतातिथिम्.........इस अतिथि के समान अतिथि को समिधाओं व घृत से बढ़ाओ। महर्षि इसका भाव करते हैं-सत्पुरुषों की सेवा, सुपात्रों को दान, जैसे घी आदि पदार्थों का अग्नि में हवन करके संसार का उपकार करते हैं वैसे ही विद्वानों में उत्तम पदार्थों का दान करके जगत् में विद्या और अच्छी शिक्षा को बढ़ाके विश्व को सुखी करें।

कहते हैं एक बार याज्ञवल्क्य जी के प्रिय शिष्य माध्यान्दिन यजुर्वेद का प्रचार करते हुए घूम रहे थे। उनसे किसी ने पूछा कि भगवन् -'स्वाहा' शब्द का उच्चारण क्यों किया जाता है? माध्यान्दिन जी ने कहा कि आपने अच्छी बात पूछी है क्योंकि बिना अर्थ समझे उच्चारण का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता है। केवल यज्ञ ही 'स्वाहा' अन्त वाला है बल्कि 'स्वाहा' ही यज्ञ का मर्म है। 'सु' का अर्थ है अच्छा। अच्छा इसलिए क्योंकि सु प्राणों का प्रतीक भी है मगर वे ही प्राण शक्तिया **'सु'** हैं तजो भद्रता की ओर प्रेरित करने वाली हैं अन्यथा भोगों की ओर ले जाने वाली प्राण शक्तियां तो **'असु'** हो जाती हैं। **असु** प्राण मृत्यु है और सु प्राण अमरत्त्व। **सु** भद्र है **असु** अभद्र। इस प्रकार **सु** है अच्छा और आह का भाव है हुआ। स्वाहा का भाव हो गया कि अच्छा अर्पण हुआ। अब यदि व्यक्ति का जीवन ही अच्छा नहीं हुआ तो अच्छा अर्पण भी कैसे हो सकता है? इसलिए व्यक्ति को मनन और चिन्तन के आधार पर ही मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए तथा जीवन को धार्मिकता के उच्च भावों के साथ जोड़कर प्रत्येक पवित्र कार्य को पूर्णता देने के लिए स्वयं को समर्पित होने के लिए तैयार रहना अपेक्षित है। यज्ञ का अन्त है ही स्वाहाकार अर्थात् अमरत्त्व प्रदाता है और भोग का अन्त हन्तकार अर्थात् पछतावा है। यदि जीवन में ही स्वाहा की भावना नहीं आई तो उसका कोई लाभ नहीं है। निरुक्तकार ने स्वाहा शब्द के अर्थ करते हुए कहा-सभी को सबके प्रति हितकारी, मनोहर, कोमल तथा मधुर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। जैसा देखा, सुना, समझा हो वैसा ही सत्य व्यवहार करना चाहिए। जो वस्तु अपनी है उसी को अपना समझना दूसरे के पदार्थ को कभी अपना न समझना। उन्होंने स्वाहा का एक यह भी भाव बताया है कि यज्ञ के पात्र आदि तथा व्यक्ति भी स्वयं पवित्र होने चाहिए।

महर्षि दयानन्द जी (यजु० 22-20) स्वाहा शब्द का अर्थ 'सत्यक्रिया' करते हुए घोषणा करते हैं कि ऐसी भावना व क्रिया वाले व्यक्ति को निश्चित रूप से सुख की प्राप्ति होती है। वहां पर उन्होंने कुछ सत्यक्रियाओं का निर्देश इस प्रकार दिया है-'जिन मनुष्यों ने सुख साधने वाले के लिऐ सत्यक्रिया, सुखस्वरूप के लिए सत्यक्रिया, बहुतों में जो वर्तमान उसके लिए सत्यक्रिया, जो अच्छे प्रकार पदार्थों को धारण करता उसको प्राप्त होकर सत्यक्रिया, सब ओर से विद्यावृद्धि के लिए सत्यक्रिया, प्रजाजनों की पालना करनेहारे के लिए मन की सत्यक्रिया, विशेष जाने हुए के लिए स्मृति सिद्ध कराने अर्थात् चेत दिलाने हारा चैतन्य मन पृथिवी के लिए सत्यक्रिया, बड़ी विनाशरहित वाणी के लिए सत्यक्रिया, अच्छा सुख करने हारी माता के लिए सत्यक्रिया, नदी के लिए सत्यक्रिया, पवित्र करने वाली विद्यायुक्त वाणी के लिए उत्तमक्रिया, पुष्टि करने वाले के लिए उत्तम क्रिया, उत्तमता से आराम के योग्य भोजन करने तथा पुष्टि के लिए सत्यक्रिया, जो मनुष्यों को उपदेश देता है उस पुष्टि करने हारे के लिए सत्यक्रिया, प्रकाश करने वाले के लिए सत्यक्रिया, नौकाओं के पालने और विद्या प्रकाश करने वाले के लिए सत्यक्रिया, व्याप्त होने वाले के लिए सत्यक्रिया, निरन्तर आप

रक्षित हों औरों की पालना करने हारे सर्वव्यापक के लिए सत्यक्रिया तथा वचन कहते हुए चैतन्य प्राणियों में व्याप्ति से प्रवेश हुए व्याप्क ईश्वर के लिए सत्यक्रिया की- वे कैसे न सुखी हों।' इस मन्त्र में महर्षि ने परमात्मा से लेकर व्यक्ति व प्रकृति के प्रति की कई समस्त सत्यक्रियाओं को स्वाहा शब्द के साथ जोड़कर यज्ञ की भावना को बहुत ही सुन्दर ढंग से विवेचित किया है।

स्वाहा के रहस्य को गोपथ ब्राह्मण में प्रश्नोत्तर शैली में बहुत ही सार्थक ढंग से विवेचित किया गया है- **स्वाहा वै कुतः सम्भूता? केन प्रकृता?.... अथोत्तम् स्वाहा....ब्राह्मणो रूपमिति ब्राह्मणम्॥ 3-16)**

प्रश्न-स्वाहा कहां से उत्पन्न हुआ?

उत्तर-स्वाहा शब्द सत्य से उत्पन्न हुआ है। इसलिए कहा है सु-आह आपने बहुत ही हितप्रिय सत्य कहा है, आत्मा को बहुत अच्छा लगा।

प्रश्न-किसलिए बना है? उत्तर-ईश्वर की प्राप्ति के लिए इसे बनाया है क्योंकि **'यज्ञो वै विष्णुः'** यज्ञ को विष्णु कहा है, उसमें आहुति से पूर्व इसको बोला जाता है।

प्रश्न-इसका गोत्र कौन सा है?

उत्तर-इसका गोत्र व सम्बन्ध सामगायन अर्थात् जो मन्त्रों को उच्चारण माधुर्य आदि से करता है उसके साथ एक गोत्र वाला है।

प्रश्न-इसमें कितने अक्षर हैं और कितने पाद हैं?

उत्तर-इसमें दो अक्षर हैं और एक पाद है। प्रश्न-कौन सा आदि वाला है और कौन सा अन्त का है?

उत्तर-इसमें शुक्ल श्वेत, पद्म-कमलवर्ण और सुवर्ण-सोना ये तीन वर्ण हैं।

प्रश्न-इसका ठहराव और अधिष्ठान-आश्रय कौन सा है और इसका देवता और रूप क्या है?

उत्तर-वेदों में सब छन्दों का संग्रहरूप और वर्णो के अन्त में एक श्वास वाला है। ऋग्वेदादि चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-शास्त्र ये छः अंग और दो शरीर, औषधि-वनस्पति लोम और दोनों आंखें सूर्य चन्द्रमा हैं। यह स्वाहा स्वधा और वषट्कार रूप होकर यज्ञों में आहुति से पूर्व बोलते हैं। अग्नि इसका देवता है और वेद के ज्ञाता ब्राह्मण का मानों रूप हैं।

महर्षि उद्दालक जी ने स्वाहा को ही यज्ञ का आत्मा कहा है। इसलिए स्वाहा शब्द के भावों के अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिए। आज व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो गया है कि वह केवल अपने लिए ही जीना चाहता है। इसीलिए परिवार, समाज तथा देश की स्थिति बिगड़ती चली जा रही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्वाहा की भावना आ जाए तो आज भी इसी धरती पर स्वर्ग स्थापित हो जायेगा। बस आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति स्वाहा के भावों को आत्मसात् कर ले। जहां यह स्वाहा की भावना है वहीं पर उन्नति, सुख-शान्ति और तृप्ति है। हम कल्पना करें कि यदि हमारे स्वतन्त्रता सेनानियों में यह स्वाहा अर्थात् अपने आप को भारत मां के लिए अर्पित करने की भावना न होती तो क्या हमें स्वतंत्रता का प्रसाद मिल सकता था? कदापि नहीं। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, शहीद भगतसिंह, मदन लाल ढींगरा, लाला लाजपत राय, भाई बालमुकुन्द, लाला हरदयाल, भगवती चरण बोहरा, दुर्गा भाभी, पं० रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, चन्द्रशेखर आजाद, वीर सावरकर आदि ही नहीं और कितने ही ऐसे ज्ञात, अज्ञात क्रान्तिकारी हैं जिन्होंने स्वयं को स्वाहा करके भारतमाता को स्वतन्त्रता दिलाई। यह सब सवाहा की भावना का ही सुपरिणाम है। स्वयं तिल-तिल होकर मिट गए मगर देश को स्वतन्त्रता दिला दी। यही समर्पण की भावना हमें यज्ञ से मिलती

है। झांसी की रानी अंग्रेजों के साथ समझौता करके तथा किसी से विवाह करके अपने जीवन को आराम से बिता सकती थी मगर नहीं अपना नाम भी अमर कर गई। शिवाजी महाराज जीवन भर दु:ख उठाकर गौ हत्यारों के साथ लोहा लेते रहे। महाराणा प्रताप और भामाशाह जैसे लोगों के यदि आज भी नाम अमर है तो वह इसी स्वाहा की भावना के कारण है। बन्दा वैरागी ने अपनी साधना को त्यागकर पंजाब में आकर गुरु गोविन्द सिंह जी के अधूरे युद्ध को न केवल पूर्णता दी बल्कि उनके बच्चों को दीवारों में चिनने वाले हत्यारों के साथ चुन-चुनकर बदला लिया।

आचार्य चाणक्य जी ने दुराचारी नन्दवंश को समाप्त करने के लिए अपना समूचा ही जीवन उत्सर्ग कर दिया तथा उसमें सफलता भी प्राप्त की। महर्षि दयानन्द सरस्वती जब विद्या प्राप्त करके अपने गुरु विरजानन्द जी के यहां जाने लगे तो गुरुवर ने आर्षग्रन्थों का प्रचार-प्रसार करने के लिए उनका जीवन ही मांग लिया। महर्षि ने गुरु के आदेश को एकदम शिरोधार्य कर लिया तथा अपना सदरा जीवन वैदिक-संस्कृति की स्थापना के लिए अर्पित कर दिया। कालान्तर में उन्हें इस कार्य को पूर्णता देने के लिए अनेकों ही कष्ट सहने पड़े मगर एक बार इस काम के लिए स्वयं को आहुति करने के बाद उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। एक बार उनके मित्र स्वामी पर्वत जी ने कहा कि दयानन्द तुम बहुत बड़े योगी हो अत: समाधि के आनन्द को छोड़कर इस कार्य में क्या पड़े हुए हो? महर्षि दयानन्द ने पलटकर उत्तर दिया कि मैं तो चाहता हूं कि इस परोपकार के कार्य में तुम भी मेरे साथ हो लो तो कार्य और अधिक द्रुत गति से हो सकेगा। अपने जीवन को स्वाहा कर देना ही यज्ञ की आत्मा है। हम लोगों ने महर्षि के इस कार्य को गति देने के लिए स्वयं को आहुत कर रखा था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपना सर्वस्व ही इस यज्ञ में आहुत कर दिया और समूचा जीवन गुरुकुल कांगड़ी के लिए समर्पित कर दिया। स्वामी दर्शनानन्द जी ने भी अपनी अधिकतम सम्पत्ति वैदिक साहित्य के प्रकाशन में लगा दी तथा स्थान-स्थान पर जाकर अनेकों ही सफल शास्त्रार्थ किए। धर्मवीर पण्डित लेखराम जी ने न केवल महर्षि के जीवन चरित लिखने के लिए स्वयं को आहुत किया बल्कि शुद्धि आन्दोलन परवान चढ़ा और तहरीर व तकरीर के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। महात्मा हंसराज जी ने नि:शुल्क अध्यापन का कार्य संभालकर डी.ए.वी. संस्था को गतिवान बनाया। महामुनि गुरुदत्त जी ने इतना अधिक कार्य किया कि उसके कारण वे अस्वस्थ हो गए तथा अन्तत: परलोक सिधार गए। यह है वास्तविक यज्ञ की भावना जो हमें स्वाहा शब्द से मिलती है। महर्षि उद्दालक ने इसीलिए यज्ञ की आत्मा का विवेचन करते हुए कहा कि अपने आपको आहुत कर देना ही यज्ञ का आत्मा है। यदि यज्ञ से हमने यह भावना आत्मसात् न की तो समझो कि हमने यज्ञ को सही रूप में नहीं समझा है। जिस व्यक्ति ने स्वयं को आध्यात्मिकता से परिपूर्ण कर लिया है वास्तव में वही व्यक्ति स्वाहा की भावना को पूर्णतया आत्मसात् कर सकता है।

समावर्तन संस्कार में आचार्य अपने शिष्य को उपदेश देता है- सत्य और धर्म का पालन करने में कभी प्रमाद न करना। भौतिक सम्पदाओं को प्राप्त करने में प्रमाद मत करना मगर आध्यात्मिक सम्पदा को प्राप्त करने में भी कभी प्रमाद मत करना। स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना। देव और पितरों की पूजा अर्थात् उनके आदर, सत्कार व सेवा में कभी प्रमाद न करना। मां ही तेरे लिए देवी के समान पूज्य है, पिता, आचार्य और अतिथि तेरे

शेष पृष्ठ २२ पर

कैसे करें पितरों का श्राद्ध

रामनिवास 'गुणग्राहक', चलभाष : ९०७९०३९०८८

एक सभ्य सुशिक्षित समाज की परम्परा रही है कि किसी धर्मात्मा व सज्जन पुरुष की बात को सदैव विश्वनीय माना जाता है। बुद्धि, विवेकसम्पन्न मनुष्य किसी ऐसे व्यक्ति की बात पर भरोसा नहीं कर पाते, जो सच के साथ झूठ भी बोलता रहता हो। इन सब बातों को ध्यान में रखकर देखें तो समाज में सदैव धर्मनिष्ठ सदाचारी विद्वानों की बात को बड़ी गम्भीरता से सुना व माना जाता है। दुर्भाग्य से भारतीय जन मानस आज इससे उलटा व्यवहार कर रहा है। धर्म, कर्म और विद्या व्यवहार के मामले आज बुद्धि विरुद्ध अन्धविश्वास देश में खूब फूल-फल रहा है। लगता है समझदार कहे जाने वाले लोग धर्म, कर्म और विद्या व्यवहार के सम्बन्ध में परम्परा से हटकर कुछ सोचने-समझने को तैयार नहीं हैं। भारत की जनता अन्धविश्वासों में जीवन बिताने में ही आनन्द मानने लगी है। धार्मिक कहलाने वाले लोगों की बात करें तो वे धर्म-कर्म व आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में अपनी स्वयं की बुद्धि का प्रयोग ही नहीं करना चाहते। दूसरे कुछ लोग हैं कि वे धर्म-कर्म को तर्क की तलवार लेकर इनके टुकड़े-टुकड़े करके धर्म और आत्मा-परमात्मा का नाम निशान ही मिटा देना चाहते हैं। सच में ये दोनों बातें बुद्धि-विज्ञान के विरुद्ध है। समझदारी इसी में है कि हम बिना तर्क-बुद्धि के जीवन में कुछ भी स्वीकार न करें तथा तर्क का प्रयोग हार-जीत की भावना से न करके सत्य तक पहुँचने की भावना से करें। ऐसी सन्तुलित सोच वाला मनुष्य जीवन के पथ पर न तो स्वयं भटकता है और न किसी को भटकने देता है।

हम चर्चा कर रहे थे कि पितरों का श्राद्ध कैसे करें? यहाँ दो शब्दों का अर्थ समझने की आवश्यकता है। पहला शब्द है पितर और दूसरो है श्राद्ध। हिन्दी भाषा के शब्द बहुधा संस्कृत से लिये हैं। संस्कृत में पिता के लिये पितृ व माता के लिए मातृ शब्द का प्रयोग इतना प्रचलित है कि हिन्दी में भी मातृभाषा और पितृ-सत्तात्मक जैसे शब्दों का प्रयोग खूब होता है। श्रावण मास के प्रथम पक्ष को श्राद्ध पक्ष या पितृ पक्ष कहा जाता है। पता नहीं कैसे हमारे मन-मस्तिष्क में ये बात बिठा दी गई है कि पितर मरे हुए पूर्वजों को कहते हैं। पितर शब्द का सामान्यतया अर्थ होता है- 'पालन करने वाले' और बहुधा यह जीवित माता-पिता व दादी-दादा के लिये प्रयुक्त होता है। पितृ शब्द का अर्थ केवल मृत माता-पिता और दादी-दादा के लिए ही मानना किसी दृष्टि से उचित नहीं। सामान्य व्यवहार की दृष्टि से से देखें तो जीवित माता-पिता की सेवा-सत्कार करना सदा अच्छा माना जाता है। मरे बाद उनके लिए कुछ भी करना सदैव असम्भव है। मरने के बाद जीवात्मा परमात्मा की कर्म-फल व्यवस्था में चला जाता है। मृत पुरुष या स्त्री के शव को विधिपूर्वक 'भस्मान्तं शरीरम्' के वेदादेशानुसार जला देने को 'अन्तिम संस्कार' इसीलिए कहते हैं क्योंकि इसके बाद इस मृत स्त्री-पुरुष के प्रति हमारा कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं, उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध शेष नहीं रहता।

'श्राद्ध' शब्द का सीधा और सरल अर्थ है- 'श्रद्धापूर्वक'। श्रद्धा शब्द श्रत्+धा से मिलकर बना है। श्रत् का अर्थ है सत्य और धा का आशय धारण

करना। सत्य को धारण करके जीवन व्यवहार में स्वीकार करने की हमारी आन्तरिक शक्ति श्रद्धा कहलाती है। किसी की उल्टी-सीधी बात को बिना सोचे-विचारे मान लेने को 'अन्ध श्रद्धा' कहा जाता है। हमें अन्ध श्रद्धा से बचना है, सत्य को स्वीकार करने से पहले प्रश्नोत्तर व शंका-समाधान पूर्वक ठोक-बजाकर जाँच लो, परख लो। हम सुनते आये हैं- 'सांच को आंच कहाँ' फिर प्रश्नोत्तर व तर्क-वितर्क करने में संकोच कैसा? रही बात श्राद्ध की शत्, सत्यम् दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया श्रत् क्रियते तत् श्राद्धम्।' अर्थात् जिस क्रिया से सत्य को ग्रहण-धारण किया जाये, उसको श्रद्धा और जो श्रद्धापूर्वक कर्म किया जाये वो श्राद्ध कहलाता है। इन दोनों शब्दों के सरल अर्थ जान लेने के बाद श्राद्ध के नाम पर जो कुछ हमारे समाज में चल रहा है वह श्राद्ध शब्द के साथ मेल खाता हुआ नहीं दिखता। कई वर्ष पूर्व हमें छोड़कर देह त्यागकर जा चुके माता-पिता आदि पूर्वजों को भी भोजन देने के नाम पर पण्डितों व कौआ आदि पक्षियों को मिष्ठान्न पकवान खिलाना न तो पितर शब्द के साथ मेल खाता है और न श्राद्ध के साथ। पण्डितों को और पक्षियों को भोजन देना बहुत पुण्य की बात है लेकिन निराधार परम्पराएं बनाकर अन्धविश्वास को बढ़ावा देना न पण्डितों के लिये उचित है और न बुद्धिमान् गृहस्थियों के लिये। भला मृत व्यक्तियों के लिये वर्षों तक वर्ष में एक दिन उन्हें भोजन देकर तृप्त या सन्तुष्ट करने के लिये किसी अन्य पुरुष व प्राणी को भोजन देना कैसे उचित माना जा सकता है? इतना तो सब जानते और मानते हैं कि किसी भूखे व्यक्ति का पेट भरना हो तो उसे ही भोजन कराना होगा न कि पास बैठे किसी दूसरे व्यक्ति को। एक रोगी बालक कड़ी औषधि न ले रहा हो तो उसके दूसरे भाई व बहन को वह औषधी देकर रोगी बालक के स्वस्थ होने की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता तो श्राद्ध के नाम पर यह गोरख धंधा क्यों? इसके बारे में किसी न किसी को तो कभी न कभी सोचना पड़ेगा।

सच यह है कि श्राद्ध और तर्पण जीवित माता-पिता, दादी-दादा आदि बड़ों का प्रतिदिन करना चाहिये। जीवित माता-पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करना सबकी समझ में आने वाली बात है जिन्होंने हमें जीवन दिया, हमारा लालन-पालन किया, हमें पढ़ाया-लिखाया, हमारे लिये अपना जीवन लगा दिया, उन माता-पिता आदि की तन-मन-धन से सेवा करना संसार का सबसे बड़ा सौभाग्य है। मैंने पिछले श्रीगंगानगर वास के समय एक परिवार ऐसा देखा जिसे मैं जीवन भर नहीं भूल सकता। सुखाडिया सर्किल के दक्षिणी सड़क पर पश्चिम की ओर कुछ चलकर दक्षिणा दिशा स्थिति किसी गली में एक धुलिया परिवार में मैं यज्ञ कराने गया। पश्चिम में एक वृद्धा माता जिन्हें दीखना बन्द हो गया था, वह एक चारपाई पर बैठी केवल एक ही वाक्य रट रही थी- ''भगवान् मेरे बच्चों को सुखी रखना।'' घर में प्रवेश करने से लेकर यज्ञ करके भोजन खाने तथा घर से निकलने तक मैंने उस माँ के मुंह से निरन्तर यही एक वाक्य सुना। मैंने उस माँ से थोड़ी बातें कीं तो उसने बताया कि परिवार के सब लोग मेरी बहुत सेवा करते हैं। मैंने उस भाग्यशाली परिवार से कहा कि चाहे किसी के पास धन-दौलत कितनी ही हो लेकिन सुख-शान्ति और सौभाग्य में आपकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। इसे कहते हैं श्राद्ध, ऐसा होता है। श्राद्ध! माता पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा करो ये सच्चा श्राद्ध है। इसके साथ सच्चे, निर्लोभी, धर्मात्मा, विद्वान् ब्राह्मण को भोजन व पक्षी आदि प्राणियों को दाना आदि देते रहें, जीवन पवित्र और स्वर्ग बन जायेगा। ❑❑

ज्योतिष - कितनी झूठी ?

मनमोहन कुमार आर्य, मो. : ०९४१२९८५१२१

ऋषि दयानन्द ने महाभारत काल के बाद देश के पतन के दो प्रमुख कारणों में फलित ज्यांतिष बताया व माना है। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में सोमनाथ मन्दिर पर मुस्लिम आक्रमण में पराजय का कारण भी मुख्यत: फलित ज्योतिष एवं जड़ मूर्तिपूजा को माना है व इसे सिद्ध भी किया है। वर्तमान में भी हम अपने परिचितों से ज्योतिष विषयक नाना प्रकार की बातें सुनते रहते हैं। कुछ दिन पूर्व चण्डीगढ़ के हमारे एक पारिवारिक मित्र परिवार के युवा दम्पत्ति ने हमें बताया कि उन्होंने अपनी 3-4 वर्षीय पुत्री की जन्मपत्री किसी ज्योतिषी को दिखाई तो उन्हें कुछ ग्रह दोष बताकर उन्हें चिन्तित कर दिया। हमने उन्हें आश्वस्त किया कि वह ज्योतिषी की नकारात्मक बातों को भूल जायें और भविष्य में किसी भी ज्योतिषी के कुचक्र में न पड़ें। हमने उन्हें अपनी पुत्री के भोजन छादन एवं आवश्यकता पड़ने पर औषध सेवन की सलाह दी और ईश्वर की उपासना और उस पर विश्वास रखने को कहा।

देहरादून उत्तराखण्ड की राजधानी है। यहां के अधिकांश लोग फलित ज्योतिष में विश्वास रखते हैं। अपने बच्चों के विवाह पर वर व वधू की जन्मपत्री ज्योतिषी को दिखाई जाती है। यदि वह अनुकूल सलाह देते हैं तो विवाह होता है अन्यथा नहीं। हमारे एक साथी ने एक बार बताया था कि उन्हें जहां अपने विवाह के लिये कन्या पसन्द आती है वहां जन्मपत्री न मिलने से विवाह नहीं हो पाता और जहां जन्मपत्री मिलती है वहां उन्हें लड़की पसन्द नहीं आती। इस प्रकार उनके अनेक वर्ष इसी बात में बीत गये थे। ज्योतिष विषयक इस प्रकार की बातें सामने आती रहती हैं। वेदों के अद्वितीय विद्वान् ऋषि दयानन्द और उनका स्थापित आर्यसमाज कार्य-कारण सिद्धान्त, कर्म-फल सिद्धान्त, वेद प्रमाण और तर्क-युक्ति से सिद्ध बातों को मानता है। फलित ज्योतिष की न तो ईश्वरीय व्यवस्था कर्म-फल सिद्धान्त से संगति लगती है, न यहां कोई कार्य-कारण सिद्धान्त के आधार पर सुख-दु:ख तथा विवाह-संबंधों की बात होती हैं और न ही इसका वेद-प्रमाण होता है। यदि ज्योतिषी वास्तव में सत्य सिद्धान्तों पर आधारित होता तो इस महत्त्वपूर्ण व उपयोगी ज्ञान व विषय का वेदों में अवश्य उल्लेख होता जैसा कि अन्य सभी विषयों का है। अत: फलित ज्योतिष की भविष्यवाणियां असत्य एवं आधारहीन होती हैं। **दर्शन शास्त्र के विवेचन के आधार पर कहा जाता है कि ईश्वर जीवों के कर्मों की अपेक्षा से त्रिकालदर्शी है।** जीव वा आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र होने से शुभ व अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को अपनी इच्छा से कर सकता है। उसमें परमात्मा की ओर से रुकावट नहीं होती। यदि रुकावट होती तो उससे उसकी स्वतन्त्रता भंग होने से उसे किसी कर्म का दण्ड नहीं दिया जा सकता था। जीव की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर जीवात्मा के भविष्य के किसी कर्म व उससे सम्बन्धित सुख-दु:ख के विषय में पहले से नहीं जान सकता। हां, जीव जो कर्म कर चुका है, उसके आधार पर उसे क्या फल मिलना है, यह ईश्वर जानता है। ईश्वर जीवात्मा के किस कर्म का फल कब देगा यह ईश्वर अपने विधान के अनुसार कर करता है, जिसे जानने का मनुष्य के पास कोई

साधन नहीं है। योगियों के लिये इसे कुछ-कुछ जानना सम्भव हो सकता है।

फलित ज्योतिष विषयक कुछ भ्रान्तियों को दूर करने के लिये हम वैदिक विद्वान् महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती जी का एक लेख- **"ज्योतिष-कितनी झूठी?"** प्रस्तुत कर रहे हैं। **वह लिखते हैं कि जिन लोगों ने सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, ईश्वर को देवी, देवताओं के रूप में साकार बनाकर, फिर उसकी मूर्तियां बनाकर मन्दिरों में कैद कर दिया, वे भला ग्रहों और उपग्रहों को कैसे छोड़ सकते थे। पृथिवी के भार से कुछ कम या अधिक भारी ग्रह अब प्रत्येक मनुष्य के ऊपर विराजते हैं कोई ग्रह अन्य ग्रह को मित्र भाव से देखता है और कोई शत्रु भाव से। कोई-कोई आतंकवादी बलवान ग्रह अपना प्रकोप वा शक्ति दिखाने लग जाता है और परेशान होता है बेचारा इन ग्रहों के भार को ढोने वाला (मनुष्य)**

महाभारत काल के पश्चात् जो दुर्दशा ईश्वर और धर्म की हुई, वही ज्योतिष की हुई। 'ज्योतिष' शब्द भविष्य में होने वाली बात के ज्ञान के लिये रूढ़ हो गया। यह ज्योतिष का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा जब इसमें हजार-पांच सौ वर्ष पूर्व 'जातक', 'ताजिक', 'मुहूर्त', 'प्रश्न', 'शकुन', अपशकुन', 'दिशाशूल', हाथ-पैर की रेखाओं, तिलों तथा विविध बातों के शुभाशुभ फल लोभी पण्डितों द्वारा जोड़ दिये गये। ग्रहों, उपग्रहों के नाम ले-लेकर, व्यक्ति-व्यक्ति में भविष्य के प्रति पहले भय, भ्रान्ति, आशंका पैदा करना, फिर उसके निराकरण के लिये उपाय प्रस्तावित करना, तदुपरान्त अनुष्ठान करवाना कुछ लोगों का व्यवसाय बन गया। जैसे, जिनको केवल घण्टा, घड़ियाल और शंख बजाना आता था, जो पढ़ाई के नाम पर शून्य थे, वे मन्दिरों के पुजारी बन गये, उसी प्रकार मामूली शिक्षा प्राप्त व्यक्ति जो शारीरिक श्रम नहीं करना चाहते थे, वे जंत्रियों तथा पत्र-पत्रिकाओं के सहारे से, दूसरों के भविष्य को बताने और बनाने वाले बन गये। **प्राचीन काल में संस्कृतज्ञ, वेद-वेदांग और दर्शन शास्त्रों के विद्वान् ही ब्रह्माण्ड के रहस्यों का साक्षात्कार करने के लिये ज्योतिष में प्रवृत्त होते थे, अब वे लोग, जिनके पास करने को कोई कार्य नहीं है, ज्योतिष से व्यवसाय के रूप में धनोपार्जन के लिये प्रवृत्त होते हैं, और तो और, झोला-छाप व्यक्ति, पक्षियों (तोता, मैना, चिड़ियों) तथा पशुओं (बन्दर, भालू,) द्वारा गारण्टी की भविष्यवाणी करते हैं।** अज्ञान, अविद्या और अंधविश्वास के ग्रस्त मानव समाज की हर समस्या (जैसे बीमारी, शादी, सन्तान, मुकदमा, रोजगार, सट्टा, व्यापार, शत्रु को हानि पहुंचाना, परीक्षा में सफलता आदि) का समाधान इन ज्योतिषियों के पास है, अतः धन्धा खूब पनप रहा है। इस बावरी दुनियां के ऐसे लोगों के लिये ही दादू सन्त ने कहा था-

दाद् दुनियां बावरी, मढ़िया (मजार) पूजन जाय।
जो आप निपूते मर गये, तेतों पुत्तर मंगन जाय

कोई नहीं सोचना चाहता कि जो व्यक्ति अपना भविष्य नहीं बना सकता, वह ज्योतिषी बनकर मात्र कलाकारी से दूसरों का भविष्य कैसे संवार देगा?

जी हां, ज्योतिष अब न विद्या है, न विज्ञान। यह कला बनकर रह गई है। जो जितनी ज्यादा कलाकारी दिखावे और अपने चमचों/भक्तों/ प्रशंसकों द्वारा जितनी अधिक विज्ञापनबाजी (Publicity) कर ले वा करवा ले, वह उतना ही बड़ा ज्योतिषी। कलाकार जो कुछ भी मंच पर या पर्दे पर दर्शकों के लिये करता है, उसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार आज जो भी मारन, ताड़न, ग्रहों के शमन के लिये

यंत्र-तन्त्र-पत्थर आदि दिये जा रहे हैं, वह सब मिथ्या, पाखण्ड और झूठ है। ज्योतिष आज यथार्थ विज्ञान (Exact Science) से गिरकर संभाव्यता सिद्धान्त (Theory of Probability) पर आश्रित हो गई है। फलित ज्योतिष में सबसे बड़ी कला है, द्वि-अर्थी बात कहना, जिससे ज्योतिषी जी की 'चित्त भी मेरी' और 'पट्ट भी मेरी' की स्थिति बराबर बनी रहे।

'घुणक्षरन्याय' और 'स्वभाविक स्म्बन्ध जन्य ज्ञान' के आधार पर यदि ज्योतिषी जी की बताई कोई बात परिस्थितिवश सही भी हो जावे, तो उसको अधिक महत्त्व देना न्यायोचित न होगा क्योंकि 50 प्रतिशत अनुमान, यदि अनुभवों पर आधारित हैं तो हरेक व्यक्ति के (चाहे वह ज्योतिषी हो या न हो) सही ही सिद्ध होंगे। यही संभाव्यता सिद्धान्त (Theory of Probability) है।

हमने स्वामी गोपाल स्वामी सरस्वती जी के वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल विचारों को प्रस्तुत किया है। इसका उद्देश्य अपने बन्धुओं के ज्योतिषी पर मिथ्या आस्था व भ्रमों को दूर करना है। आर्यसमाज विगत 144 वर्षों से अज्ञान व अन्धविश्वासों को दूर करने का काम कर रहा है। तथापि समाज से यह मिथ्या बातें दूर नहीं हो पा रही हैं। ज्ञानियों व विद्वानों का कार्य असत्य को दूर करने व उसका खण्डन करने सहित सत्य के प्रचार के लिये उसका मण्डन करना है। आर्यसमाज की स्थापना ही सत्य मान्यताओं से युक्त ईश्वरीय ज्ञान वेद के प्रचार के लिये हुई है। वही कार्य वह विगत डेढ़ शताब्दी से कर रहा है। आर्यसमाज जो काम करता है, वह ईश्वर की आज्ञा का पालन है। विश्व के लगभग 80-90 प्रतिशत लोग फलित ज्योतिष से दूर रहते हैं और अच्छा व सुखी जीवन व्यतीत करते हैं जो हमें भी अपने जीवन से सभी अविद्याजन्य परम्पराओं यथा जड़-पूजा और फलित ज्योतिष आदि को दूर करना होगा। इसके स्थान पर वेदों की सत्य व कल्याणकारी शिक्षाओं को अपने जीवन में प्रमुख स्थान देना होगा। इसी से हमारा सर्वांगीण हित व कल्याण होगा और हमारा देश व समाज उन्नति को प्राप्त होगा। ओ३म् शम्

❑❑

पृष्ठ १७ का शेष

लिए देवता हैं, इनका आदर और सम्मान तथा सेवा करते रहना। इसके बाद आचार्य एक और बहुत ही महत्वपूर्ण बात कहता है कि मां-बाप, आचार्य तथा अतिथि आदि के उन्हीं आदेशों व उपदेशों को मानना जो अनुकरणीय हों। अपने बारे में भी आचार्य बहुत ही सरल स्वभाव से कहते हैं अपने आचार्य की भी उन्हीं बातों का अनुकरण करना जो सुचरित हों, यदि आचार्य भी कोई बुरा कर्म करे तो उस ओर उसका ध्यान दिलाना तथा उसके द्वारा बुरा कर्म करने का आदेश मिले तो उस आदेश को मत मानना। ऊपर जिन पूज्यों का संकेत किया गया है, उनसे भी श्रेष्ठ व्यक्ति हों उनके पास बैठना, कभी भी बुरी संगति में न जाना। त्याग और बलिदान के लिए सदा तैयार रहना। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, लज्जा के भाव से देना, यदि नहीं दिया तो लोग क्या कहेंगे ऐसी भावना से देना, भय से देना, जगती के कल्याण के लिए कुछ न कुछ देते ही रहना। यदि किसी काम में किसी प्रकार का सन्देह पैदा हो जाए अर्थात् तुम्हें पता न चले कि धर्माचार क्या है-लोकाचार क्या है तो ऐसी स्थिति में तुम्हारे आस-पास जो कोई ब्राह्मण हो उसकी बात को सत्य मानना। यही आदेश है....यही उपदेश है....यही वेद और उपनिषद् का सार है....यही हमारा अनुशासन है....ऐसा ही आचरण करना....ऐसा ही अनुष्ठान करना।

❑❑

किसके हैं सावरकर !

राजेशार्यः आट्टा पानीपत-१३२१२२ (मो०: ०९९९१२९१३१८)

अक्टूबर अंक का शेष.............

30 दिसम्बर को अहमदाबाद में हिन्दू महासभा के अध्यक्ष पद से सावरकर ने गाँधी के कथन (मुसलमानों को साथ लिये बिना स्वराज्य मिलना असम्भव है) की निन्दा करते हुये मुसलमानों को चेतावनी दी- "यदि तुम साथ आते हो तो तुमको साथ लेकर, यदि तुम साथ नहीं आते तो तुम्हारे बिना अकेले ही और यदि तुम हमारा विरोध करोगे तो तुम्हारे उस विरोध को कुचलते हुये हम हिन्दू देश की स्वाधीनता का युद्ध निरन्तर लड़ते रहेंगे।"

हैदराबाद के निजाम ने हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार किये तथा सभी धार्मिक कृत्यों पर रोक लगा दी। हिन्दुओं का बलपूर्वक धर्मान्तरण किया जाने लगा तो दिसम्बर 1938 में महात्मा नारायण स्वामी व स्वामी स्वतंत्रानन्द जी के नेतृत्व में आर्य समाज ने निजाम के विरुद्ध आन्दोलन किया। सावरकर तुरन्त शोलापुर पहुँचे और घोषणा की- "इस आन्दोलन में आर्य समाज को अपने को अकेला अनुभव नहीं करना चाहिये। हिन्दू महासभा अपनी पूरी शक्ति से आर्य समाज के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर निजाम की हिन्दू विरोधी नीति व उसके जघन्य क्रिया कलापों को चकनाचूर करके ही चैन की सांस लेगी।" हिन्दू समाज के विभिन्न संगठनों ने इस आन्दोलन में सहयोग किया। इसी के परिणाम स्वरूप 19 जुलाई 1939 को निजाम ने नागरिक संघर्ष को मान्यता दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। 9 अक्टूबर को वायसराय लिनलिथगो ने सावरकर को वार्तालाप के लिये आमंत्रित किया। सावरकर दिल्ली गये तो वायसराय ने उनसे पूछा कि विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में उनकी क्या नीति है? सावरकर ने स्पष्ट शब्दों में बताया- "क्रान्तिकारी होने के नाते मैं देश के सैनिकीकरण के पक्ष में हूँ, मैं इसमें देश का हित समझता हूँ। देश के भीतर और देश की सीमाओं पर हिन्दू सैनिकों की टुकड़ियाँ यदि रहें तो यह देश के हित में होगा। इसमें ही हिन्दुओं का हित भी निहित है।"

वायसराय पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और बाद में एक पत्रकार सम्मेलन में उसने कहा- "सावरकर अनेक वर्ष तक अण्डमान में कारागार में यातना झेलते रहे हैं किन्तु इससे न तो उनका तेज क्षीण हुआ और न ही उनके क्रान्तिकारी विचारों में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ है। इस द्वितीय विश्व युद्ध के प्रश्न पर भी वे सर्वप्रथम भारतीय हित को सम्मुख रखते हुये ही कुछ बात करते हैं।"

1940 में उधम सिंह ने जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के खलनायक ओडवायर को मार डाला, तो सावरकर ने उधमसिंह का अभिनन्दन करते हुये कहा- "सशस्त्र क्रान्तिवादी देशभक्तों द्वारा अंग्रेज अधिकारियों की बलि लेते ही ब्रिटिश राजसत्ता डर के मारे काँप उठती है। कुछ देशभक्त वीरों को फाँसी अवश्य मिलती है किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य हिल जाता है। भारत के लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिये अंग्रेजों द्वारा कुछ प्रशासनिक सुधारों का चारा डाल दिया जाता है। हमें इससे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये।"

दिसम्बर 1940 में मदुरै में आ.भा. हिन्दू महासभा

के अधिवेशन में सावरकर ने गर्जना की– "हिन्दुओं को अहिंसा, चरखा व सत्याग्रह के प्रपंच से सावधाना रहना चाहिये। सम्पूर्ण अहिंसा की नीति आत्मघाती नीति है, एक बड़ा भारी पाप है। युवकों को इस समय अधिकाधिक संख्या में सेना में भर्ती होना चाहिये। सैनिकीकरण से शस्त्र विद्या की जानकारी होगी। इस विद्या में पारंगत होकर हमारी कौम वीर व अपराजेय बन सकती है।"

देश के मतदाताओं को सावधान करते हुये सावरकर ने कहा– "कांग्रेसी नेता चुनाव में तुम्हारे मत लेने के बाद फिर पाकिस्तान का समर्थन करके देश के साथ विश्वासघात करेंगे।"

अमेरिका के विख्यात पत्रकार लुई फिशर ने पाकिस्तान के विषय में सावरकर से भेंट की और पूछा– "आपको मुसलमानों को अलग देश देने में आपत्ति क्या है?" वीर सावरकर ने तपाक से उत्तर दिया– "अमेरिका के लोग भारी माँग के बावजूद नीग्रो लोगों के लिये अलग नीग्रोस्तान क्यों नहीं बना देते?" लुई फिशर ने चौंककर सावरकर के चेहरे को देखा और बोला– "देश का विभाजन करना राष्ट्रीय अपराध है।" सावरकर बोले– "इसीलिये हम भारत विभाजन की योजना को राष्ट्र विरोधी मानते हैं और उसका डटकर विरोध कर रहे हैं। जबकि मुस्लिम लोग उस देश को ही नापाक मानते हैं और उसके टुकड़े करना चाहते हैं।" यह सुनकर लुई फिशर सहम गये।

प्रबुद्ध पाठक! सावरकर में देशभक्ति व वीरता का तेज आयु पर्यन्त (26 जनवरी 1966) बना रहा। उनके जीवन का क्षण–क्षण व कण–कण राष्ट्र को समर्पित था। इसीलिए जब वीर सावरकर रावलपिण्डी पधारे तो आर्य समाज के महान् संन्यासी स्वामी आत्मानन्द जी ने विचारा– "वीर सावरकर ने अपने राष्ट्र के लिये वह कर्त्तव्य निभाया है, जिसका स्मरण करते ही मानव नतमस्तक हो जाता है।" यह विचारकर वे अपने अंग्रेजी विद्यालय के सब विद्यार्थियों को लेकर सड़क पर आ गये। सड़क के दोनों ओर विद्यार्थियों को खड़ा कर दिया और स्वयं वीर सावरकर की कार को हाथ के संकेत से रोक लिया। वीर सावरकर की जय–जय ध्वनि से आकाश गूँज उठा। स्वामी जी ने वीर शिरोमणि सावरकर को पुष्पमाला पहनाकर अपनी श्रद्धा अर्पित की और चरण स्पर्श किये। एक महान् योगी संन्यासी ने किसी श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थी के चरण–स्पर्श किये हों, सम्भवत: संसार ने यह पहली बार देखा होगा। जबकि दूसरी तरफ महात्मा गाँधी से लेकर राहुल गाँधी तक कांग्रेस ने वीर सावरकर का अपमान करने का कोई अवसर नहीं छोड़ा। कभी अंग्रेजों से माफी माँगने वाला 'कायर' व कभी गाँधी जी का 'हत्यारा' प्रचारित किया जाता है। जबकि वीर सावरकर ने 20 नवम्बर 1948 को अपने अदालती बयान (52 पृष्ठ) में कहा था कि गाँधी जी की हत्या के मामले में उन्हें जान–बूझकर फँसाया गया। यह ठीक है कि वे गाँधी जी के विचारों से कभी सहमत नहीं रहे और भविष्य में भी कभी सहमत न होंगे, परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि वे हत्या जैसे जघन्य कर्म पर उतर आते। न्यायाधीश ने भी 10 फरवरी 1949 को सावरकर को निरपराध घोषित कर ससम्मान मुक्त कर दिया था। फिर बिना प्रमाण अपराधी घोषित करने वाले ये कौन से न्यायाधीश पैदा हो गये? मई 2014 के चुनाव से पूर्व हमारे तुम्हारे (महात्मा गाँधी हमारे – सावरकर तुम्हारे) का नारा भी सुनने को मिला। तो क्या वीर सावरकर ने केवल आर.एस.एस. या भाजपा के लिये कार्य किया और गाँधी जी ने केवल कांग्रेस की भलाई के लिये कार्य किया? यदि हां, तो फिर वे राष्ट्र पिता क्यों कहलाए? यह ठीक है कि आर.एस.

एस. से जुड़ी भाजपा वीर सावरकर का सम्मान करती है पर वह गाँधी जी का अपमान तो नहीं करती। देशभक्त तो सभी देशवासियों के लिये आदरणीय होते हैं। यदि भाजपा ने लगभग 100 वर्ष से अपमानित या उपेक्षित होने वाले वीर सावरकर के बलिदान का सम्मान किया तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि सावरकर संघी हो गये। सावरकर ने जब जेल की यातनाएँ (काले पानी आदि में) झेली थीं, तब न तो भाजपा थी और न संघ (आर.एस.एस.) था। केवल देश था और उसकी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करने वाली कांग्रेस (नरम व गरम दल) थी। सावरकर और संघ में क्या सम्बन्ध रहा है, इसे जानने के लिये अतीत का अवलोकन करते हैं।

मुस्लिम लीग की तरह हिन्दू महासभा 1908 ई० में पंजाब में बनी थी। मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द आदि ने समय-समय पर इसकी अध्यक्षता की। सभा का उद्देश्य हिन्दुत्व का उद्धार करना था। इसी प्रकार 1925 ई० (विजयादशमी) को डॉ० मुञ्जे, डॉ० हेडगेवार, श्री परांजपे और बापू साहिब सोनी ने एक हिन्दू युवक क्लब की नींव डाली। बाद में इस संगठन को आर.एस.एस. का नाम दिया गया। इसे आगे बढ़ाने में हिन्दू महासभा ने भरपूर सहयोग किया। दिल्ली में इसकी पहली शाखा हिन्दू महासभा भवन में हिन्दू सभाई नेता प्रा० रामसिंह की देख-रेख में हुई। लाहौर में शाखा हिन्दू सभाई नेता डॉ० गोकुलचन्द नारंग की कोठी में लगी। जिसका संचालन भाई परमानन्द के दामाद धर्मवीर जी करते थे। पेशावर में आर.एस.एस. की शाखा हिन्दू महासभा कार्यालय में महासभाई नेता श्री मेहरचन्द खन्ना की देख-रेख में लगती थी। वीर सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर ने 1931 ई० में अपने 'तरुण हिन्दू महासभा' के 8000 सदस्य आर.एस.एस. में मिला दिये। वीर सावरकर के सहयोगी व शुद्धि प्रचारक संत पाचंलेगावरकर ने अपने 5000 सदस्य वाले संगठन मुक्तेश्वर दल को आर.एस.एस. में मिला दिया। 10 मई 1937 को वीर सावरकर नजरबन्दी से मुक्त हो गये। उसी वर्ष वे हिन्दू महसभा के अध्यक्ष चुने गये। हिन्दू महासभा एवं आर.एस.एस. के संस्थापकों ने वीर सावरकर द्वारा प्रतिपादित हिन्दू राष्ट्र को अपनी बुनियादी विचारधारा के रूप में अपनाया। परन्तु कांग्रेस ने सदैव यही प्रचार किया कि वीर सावरकर एवं हिन्दू महासभा साम्प्रदायिक एवं मुस्लिम विरोधी है।

1939 ई० में सावरकर तीसरी बार हिन्दू महासभा के अध्यक्ष चुने गये। कलकत्ता अधिवेशन में हुये सचिव पद के चुनाव में महाशय इन्द्रप्रकाश (80 वोट) चुने गये तो एम.एस. गोलवल्कर (40 वोट) को इस हार से इतनी चिढ़ हो गई कि वे अपने कुछ साथियों सहित हिन्दू महासभा से दूर हो गये। अकस्मात् जून 1940 में डॉ० हेडगेवार की मृत्यु हो गई और उनके स्थान पर श्री गोलवल्कर को आर.एस.एस. प्रमुख बिना दिया गया। डॉ० हेडगेवार कई बातों में मतभेद होते हुये भी वीर सावरकर का सम्मान व सहयोग करते थे पर श्री गोलवल्कर के मन में उतना आदर सम्मान का भाव नहीं था, अतः उन्होंने सभा व सारवकर के हिन्दू युवकों को सेना में भर्ती होने के लिये प्रेरित करने वाले अभियान की आलोचना करनी शुरू कर दी अर्थात् वे कांग्रेस की लकीर पर चल पड़े।

डॉ० हेडगेवार जहाँ प्रगतिशील व आर्य समाज की विचारधारा से प्रभावित थे, वहीं गुरु गोलवल्कर रुढ़िवादी, अन्धविश्वासी व स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित थे। साथ ही उनकी विचारधारा थी- "जो मैं कहता हूँ वही ठीक है, दूसरों को इसे मानना ही चाहिये। जो नहीं मानता वह हमारा नहीं है।"

1938-39 के हैदराबाद सत्याग्रह की तरह 1942 के "भारत छोड़ो आन्दोलन" में भी संघ के सदस्यों ने व्यक्तिगत रूप में बड़ी संख्या में भाग लिया पर संघ प्रमुख ने इससे दूरी बनाये रखी। अक्टूबर 1944 में वीर सावरकर ने नई दिल्ली में सभी हिन्दू संगठनों और कुछ विशेष हिन्दू नेताओं की एक सभा बुलाई, जिसमें यह विचार करना था कि मुस्लिम लीग की ललकार व माँगों का सामना कैसे किया जाये। इतनी आवश्यक सभा में भी श्री गोलवल्कर जी नहीं पहुँचे। सावरकर के अंतिम दिनों (मृत्यु 16 मार्च 1945) में जब गुरु गोलवल्कर उनसे मिले तो उन्होंने आंचल फैलाकर गुरु जी से संघ-महासभा के बीच बढ़ते हुये वैमनस्य को समाप्त कराने का अनुरोध किया। गुरु जी ने उन्हें वैसा करने का आश्वासन तो दिया पर किया कुछ नहीं।

1946 में अंग्रेज सरकार ने केन्द्रीय विधान सभा के चुनाव घोषित कर दिये। कम्यूनल अवार्ड के अन्तर्गत तब हिन्दू मुसलमानों के लिये अलग-अलग सीटें होती थीं। कांग्रेस ने लगभग सभी सीटों पर प्रत्याशी खड़े किये, मुस्लिम लीग ने सभी मुस्लिम सीटों पर और हिन्दू महासभा ने कुछ हिन्दू सीटों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये। हिन्दू महासभा से नामांकन भरने वाले प्रत्याशियों में आर.एस.एस. के कुछ स्वयंसेवक भी थे। जब नामांकन भरने की तिथि बीत गई, तब गुरु जी ने उन्हें अपना नाम वापस लेने के लिये कहा। परिणाम स्वरूप मुस्लिम लीग को 93% मुस्लिम वोट मिले, कांग्रेस को 84% हिन्दू वोट मिले और हिन्दू महासभा को मात्र 16% हिन्दू वोट मिले। अतः अंग्रेजों ने कांग्रेस को हिन्दू व लीग को मुस्लिम प्रतिनिधि मानकर पाकिस्तान की माँग पर विचार करने के लिये बुलाया (जून-जुलाई 1947)। हिन्दू महासभा को पूछा ही नहीं। संघ के विश्वासघात ने महासभा को निराश कर दिया और सात लाख युवा स्वयंसेवकों वाले संघ ने भारत विभाजन को रुकवाने के लिये कोई कदम नहीं उठाया। अखण्ड भारत के लिये संघर्षरत हिन्दू महासभा अकेली पड़ गई। हिन्दुओं का राजनैतिक नेतृत्व करने वाले दल के रूप में हिन्दू महासभा पहले ही थी पर उसका समर्थन न कर गुरु जी ने 1951 ई० में जनसंघ पार्टी खड़ी करवा दी। फिर भी कोई वीर सावरकर को संघी बताये तो यह मानसिक दिवालियापन नहीं तो और क्या है?

जहाँ तक नाथूराम गोडसे की बात है, वे पहले आर.एस.एस. के सक्रिय सदस्य थे। 1930 में रत्नागिरी में वीर सावरकर से मिले, उनसे व उनके साहित्य से प्रेरणा ली। जब वीर सावरकर हिन्दू महासभा के अध्यक्ष बने, तो गोडसे हिन्दू महासभा में शामिल हो गये। इसी के अन्तर्गत हिन्दू सेना बनाई व हैदराबाद सत्याग्रह में बढ़चढ़ कर भाग लिया और वर्ष भर जेल काटी। यद्यपि गोडसे ने सावरकर के साहित्य की तरह गाँधी जी का साहित्य भी खून ध्यान से पढ़ा था पर गाँधी जी की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीतियों से गोडसे का खून खौल उठा। वे अपने मित्र आप्टे के साथ गाँधी जी की सभा में जाकर उग्र विरोध प्रदर्शन करने लगे कि गाँधी जी को प्रार्थना सभा चलाना मुश्किल हो गया। भंगी कॉलोनी में तो गाँधी जी पिछले दरवाजे से ही निकल गये। जब वीर सावरकर को इस घटना का पता लगा तो उन्होंने गोडसे को बुलाकर खूब डाँटा और समझाया। गोडसे और उनके मित्रों को वीर सावरकर के ये विचार अच्छे या सन्तोषजनक नहीं लगे। उन्होंने तय कर लिया कि वे हिन्दू जाति के हित को सावरकर के नेतृत्व से अलग कर लेंगे। अपने भविष्य की योजनाओं और कार्यक्रमों के विषय में उनसे किसी प्रकार का परामर्श नहीं लेंगे। गोडसे ने अपने सहयोगी मित्रों को यह भी कह दिया कि वे अपनी भावी योजनाओं का कोई भेद

सावरकर को न दें। वीर सावरकर ने 15 अगस्त 1947 को भगवे के स्थान पर तिरंगे झण्डे (चक्र वाले) को राष्ट्रीय ध्वज मानकर फहराने की बात कही तो गोडसे ने इस बात का विरोध किया।

एक समय था जब नाथूराम गोडसे वीर सावरकर के कार्यों के तथा उसके प्रखर व्यक्तित्त्व के दीवाने थे, लेकिन कांग्रेस के प्रति समर्थन की भावना देखकर गोडसे के मन में सावरकर की नीतियों के प्रति घोर विरक्ति हो गई। गोडसे हिन्दू महासभा के मुख्य पत्र 'अग्रणी' के सम्पादक थे। उसमें भी उन्होंने कांग्रेस को समर्थन देने की नीति का विरोध किया तथा हिन्दू महासभा के पुराने तथा वृद्ध नेताओं के कार्यों की आलोचना शुरू कर दी। नाथूराम ने निर्णय ले लिया था कि वे अपनी आगे की कोई योजना वीर सावरकर या अन्य किसी पुराने नेताओं को नहीं बताएंगे। इसी पर चलते हुये उन्होंने गाँधी का वध किया। इसमें वीर सावरकर या संघ की भूमिका कहाँ रही? लगभग 70 वर्ष बाद भी 'गाँधी हत्या' की आड़ में बलिदानी वीर सावरकर को बदनाम करने वाले लोग क्या बतायेंगे कि यदि सावरकर इस हत्या के दोषी थे, तो तत्कालीन न्यायाधीश द्वारा उन्हें ससम्मान मुक्त किये जाने पर नेहरू सरकार ने इस फैसले को उच्च न्यायालय में चुनौती क्यों नहीं दी? और जब पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली अप्रैल 1950 को दिल्ली आये, तब सावरकर ने किसकी हत्या दी थी, जो उन्हें लगभग 3 मास बन्दी बनाकर रखा और बाद में एक वर्ष राजनीति में भाग न लेने की शर्त पर रिहा किया? जब तक नेहरू जी जीवित रहे वीर सावरकर को स्वतंत्रता सेनानी होने की पेंशन भी नहीं दी और स्वयं 1955 ई० में ही 'भारत रत्न' का सम्मान भी ले गये। तभी तो कहना पड़ता है–

सत्ता के मद में सत्य छुपाया, देशभक्त बदनाम किये।
इतिहासों में यह लिखवाया, हमने ही विजय संग्राम किये॥
फिर क्यों कोई 'केसरे हिन्द' बना, मौके पर आन्दोलन बन्द किये?
देशभक्त चढ़े फाँसी पर, ये समझौतों में प्रबन्ध किये॥
किनके कारण नेताजी ने, कांग्रेस का पद छोड़ा था।
किसी महत्त्वाकांक्षा ने, भारत दो हिस्सों में तोड़ा था॥
कौन बोला था – सुभाष के खिलाफ, मैं चलूँ तलवार उठाने को।
अंग्रेजों का मित्र बना कौन, भारत की गद्दी पाने को॥
किसने बोये 'तीन सौ सत्तर' कांटे, कश्मीरी केसर क्यारी में।
कौन-कौन हुये थे शामिल, देश के प्रति गद्दारी में॥
सदा के लिये सूरज की किरणें, छुपा सकते हैं मेघ नहीं।
सत्य जानना चाहती जनता, क्यों नेहरू ने उठाई तेग नहीं॥
फिर भी वे 'भारत रत्न' बने, पर बलिदानी पेंशन को तरसे।
वीर जवाहर जिन्दाबाद हुए, कायर लिख गये सावरकर से॥
समय ने करवट बदली है, न सत्य छुपेगा छुपाने से।
जन गण मन से नहीं मिटेगा, पट्टी से नाम मिटाने से॥

❑❑

आर./आर. नं० १६३३०/६७
Post in Delhi R.M.S
०५-११/११/२०१६
भार- ४० ग्राम

नवम्बर 2019

रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2018-20
लाईसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१८-२०
Licenced to post without prepayment
Licence No. U (DN) 144/2018-20

पाठकों से निवेदन

१. अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।
२. १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुबारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।
३. यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।
४. अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।
५. जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

ओ३म्

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● प्रचार संस्करण (अजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● विशेष संस्करण (सजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● उपहार संस्करण	मुद्रित मूल्य 1100 रु.	प्रचारार्थ 750 रु.	
● स्थूलाक्षर सजिल्द 20×30¸8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6
Ph. :011-43781191, 09650522778
E-mail : aspt.india@gmail.com

छपी पुस्तक/पत्रिका

श्री सेवा में......................................
ग्राम......................................
डा0 ....
जिला......................................

मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक धर्मपाल आर्य, स्वामित्व आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४२७, गली मन्दिर वाली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-११०००६ से प्रकाशित एवं तिलक प्रिंटिंग प्रेस, २०४६, बाजार सीता राम, दिल्ली-११०००६ से मुद्रित।